इकाई 19 पिता : ज्ञानरंजन

इकाई की रुपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 नयी कहानी : नए और पुराने मूल्यों का द्वंद्व
19.3 साठोत्तरी कहानी का भावबोध
19.4 पारिवारिक संबंधों के बदलते स्वरुप
19.5 सामाजिक यथार्थ
19.6 कहानी की संरचना
19.7 सारांश
19.8 प्रश्न
उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य

'समकालीन कहानी' पर आधारित पांचवे खंड की यह पहली इकाई है। इस इकाई में आप समकालीन कहानी के सुपरिचित कहानीकार ज्ञानरंजन की 'पिता' कहानी का अध्ययन करेंगे। पाठ्यक्रम सामग्री के साथ प्राप्त पाठ्यपुस्तक में प्रस्तुत कहानी को आप पढ़िए और उसके बाद इस पाठ में दी गई पाठ्यसामग्री के आधार पर कहानी की मूल संवेदना, कथ्य, शिल्प, संरचना को समझने का प्रयास कीजिए। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- समकालीन कहानी के उद्भव और विकास के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों को समझ सकेंगे,
- साठोत्तरी कहानी के भावबोध को बदलते परिवेश और टूटते हुए पारिवारिक मूल्यों के संदर्भ में विश्लेषित कर सकेंगे,
- पारिवारिक संबंधों के बदलते स्वरुप को जान सकेंगे,
- संयुक्त परिवार के टूटने में दो पीढ़ियों के बदलते मूल्य और उसके कारण मानवीय संबंधों में आई दरार कैसे जिम्मेदार है, इसे गहराई से समझ सकेंगे,
- मध्यवर्गीय पारिवारिक तनाव को ही नहीं व्यक्ति और व्यवस्था के टकरावों को भी तत्कालीन समाज में हो रहे परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

'पिता' ज्ञानरंजन की महत्वपूर्ण कहानियों में से एक है। इस कहानी में रुढ़ियों से चिपके पिता के जिद्दी रुप को रेखांकित किया गया है। संयुक्त परिवार के टूटते चले जाने और युवाओं का शहरों की ओर रुख करने से बूढ़ों की अपनी समस्याएँ बढ़ी हैं। इस असहाय अवस्था में वे अकेले पड़ते जा रहे हैं। उनकी देखरेख करने वाला कोई नहीं रह गया है। ये लोग अक्सर गाँव में ही रह जाते है। 'पिता' में कहानीकार का उद्देश्य इस चिरपरिचित समस्या को रेखांकित करना नहीं है बल्कि पुरानी पीढ़ी की रुढ़िवादिता को उद्घाटित करना इस कहानी का मुख्य उद्देश्य है। यहाँ पिता संयुक्त परिवार के एक सम्मानित सदस्य हैं। उनको पारिवारिक असम्पृक्ति के कारण अकेलापन या किसी प्रकार की असुविधा नहीं उठानी पड़ती बल्कि वे स्वयं चीजों के प्रति तटस्थता और अन्यमनस्कता दिखाते हैं। परिवार उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जाता। वह तो उनके इर्द-गिर्द सुविधाएँ जुटाने का प्रयास करता है लेकिन पिता इन प्रयासों के प्रति कोई रुचि प्रदर्शित नहीं करते।

'पिता' में पारिवारिक संबंधों के एक नए आयाम को उजागर करने की कोशिश दिखाई देती है जो दूसरी कहानियों से इसे अलग करती हैं। यहाँ पिता अपनी रुढ़ियों व संस्कारों से चिपके हुए हैं। आवश्यक सुविधाओं को भी वे फालतू खर्च समझ बैठते हैं। परिवारजनों के बार-बार आग्रह करने पर भी वे उन सुविधाओं का उपयोग नहीं करते। जबकि घर के लोग आवश्यक सुविधाएँ मुहैया कराने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं।

आज जब संयुक्त परिवार के लगातार टूटने से बूढ़ों की स्थिति काफी दयनीय हो गई है, उन्हें प्रायः अकेलेपन में जीवन के आखिरी दिन बिताने पड़ते हैं तब ऐसे में अब भी संयुक्त परिवारों का अस्तित्व बना हुआ है और यहाँ बूढ़े संयुक्त परिवार के साथ रहते हुए भी नहीं रहते। यानी अपनी जिद और पुरानी मान्यताओं और विश्वासों से वे इस हद तक चिपके होते हैं कि किसी प्रकार का नयापन वे स्वीकार नहीं कर पाते।

'पिता' कहानी के पिता असहाय नहीं है। वे परिस्थितियों के अनुरूप खुद को ढाल लेते हैं। वे स्वाभिमानी हैं। किसी का एहसान नहीं लेना चाहते, यहाँ तक कि अपने बेटों का भी नहीं। बहन की पढ़ाई में भाई द्वारा खर्च किए गए रुपयों का हिसाब रखते हैं और एक दिन उस भाई को उतने रुपयों की एक पासबुक थमा देते हैं। उन्हें शक है कि कहीं भविष्य में उनका बेटा अपनी बहिन को यह अहसास न होने दे कि उसी की बदौलत उस बहन ने अपनी पढ़ाई पूरी की। तब शायद उसे अत्यन्त मार्मिक पीड़ा से गुजरना पड़ेगा और वह अपने पिता को माफ नहीं कर पाएगी। इस दृष्टि से पिता का यह कदम दूरदर्शितापूर्ण लगता है। पिता को व्यावहारिकता का पूरा पूरा ज्ञान है। पिता के इस कदम को भले ही अटपटा मान लिया जाए पर यह हमारे सामाजिक जीवन की एक सच्चाई है। और कोई भी स्वाभिमानी पिता अपनी किसी संतान पर दूसरों का एहसान बर्दाश्त नहीं करता। पुरानी पीढ़ी के लोगों में इस तरह की प्रवृत्ति ज्यादा देखने को मिलती है। 'पिता' कहानी परिवार के इन्हीं बिंदुओं को सहज ढंग से अभिव्यक्त करती है।

ज्ञानरंजन सातवें दशक के एक महत्वपूर्ण कहानीकार हैं। आधुनिक हिंदी कहानी को जीवन का मुहावरा देने वाले लेखकों में ज्ञानरंजन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इनकी कहानियों में आज के जीवन को पहचानने और विसंगतियों को रेखांकित करने की क्षमता है। ज्ञानरंजन कहानी को दर्द की आवृत्ति-पुनरावृत्ति ही नहीं, निर्माण के लिए दी जाती हुई आहुति मानते हैं। उनकी रचनाओं में सामाजिक सोद्देश्यता का पूर्ण निर्वाह दिखाई देता है। ज्ञानरंजन की कहानियों में परिवेश के बीच आम आदमी की जिंदगी तथा उसकी उलझनों में जिजीविषा की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। आधुनिक जीवन के संदर्भ में पुराने नए मूल्यों तथा पीढ़ियों के संघर्ष, संयुक्त परिवार का विघटन, टूटता हुआ दाम्पत्य जीवन, सेक्स को लेकर नैतिकता-अनैतिकता का द्वंद्व, वर्तमान जिंदगी में आए अजनबीपन, घुटन, पीड़ा, संत्रास एवं व्यर्थताबोध को सहज ढंग से अभिव्यक्ति मिली है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्र, समाज, परिवार, घर व्यक्ति और व्यक्तित्व की टूटन-घुटन, विरसता, अविश्वास - ज्ञानरंजन की कहानियों में चुनौती बनकर उभरा है। इसके पहले कि हम ज्ञानरंजन और उनकी कहानी 'पिता' के बारे में विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करें, नयी कहानी और सातवें दशक की कहानी के विषय में जान लेना उपयुक्त होगा।

19.2 नयी कहानी : नए और पुराने मूल्यों का द्वंद्व

आजादी मिलने के साथ ही साथ भारत में वह शिक्षित मध्यवर्ग स्थापित, विकसित और संवर्धित हुआ, जो नयी कहानी का जन्मदाता माना जाता है। शुरु के तीन-चार वर्षों की संक्रमणकालीन स्थिति समाप्त होते ही एक नये वातावरण की सृष्टि होती है जिसमें कहानी को फलने-फूलने का अनुकूल वातावरण मिला। 'कहानी' पत्रिका के माध्यम से नए कहानीकारों को आगे आने का मौका मिला। 'कहानी' पत्रिका के प्रकाशन ने इस क्षेत्र में बहुत दिनों से महसूस की जा रही कमी को पूरा किया। प्रेमचंद के बाद जैनेन्द्र, अज्ञेय,

यशपाल को छोड़कर पाठक हिंदी-कहानियों में किसी ऐसे स्थान पर रुकने के लिए बाध्य नहीं हुआ जहाँ वस्तु और शैली की दृष्टि से समृद्ध कहानीकारों ने आकृष्ट किया हो। आजादी के बाद कहानीकारों की एक ऐसी पीढ़ी सामने आयी जिसने रूचियों और सामाजिक संस्कार की भिन्नता के बावजूद पाठकों में अपनी पहचान बनायी। पुराने लेखक नए संदर्भ से ठीक-ठीक जुड़ नहीं पाए। वे नए भाव बोध को न तो अच्छी तरह पहचान पाए और न ही उसे ग्रहण कर सके। श्रीपत राय 'कहानी : नववर्षांक - 1956' में कहते है ''यह स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं कि कहानी का स्वरूप बदल रहा है और मैं शायद अपने पुराने संस्कारों के कारण कहानी से वह माँग कर रहा हूँ, जो आज उसका लक्ष्य ही नहीं है।'' इस संदर्भ में अंग्रेजी के प्रतिष्ठित कथाकार ई.एम.फॉर्स्टर का कथन उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा, 'मैं सोचता हूँ कि जिन कारणों से मैंने उपन्यास लिखना बंद कर दिया, उनमें से एक कारण यह है कि संसार का सामाजिक रूप इतना बदल चुका है और मैं पुराने ढंग की, परिवारों वाली दुनिया के बारे में लिखने का आदी था, जो अपेक्षाकृत शांत थी। वह सब चला गया और यद्यपि मैं नयी दुनिया के बारे में सोच सकता हूँ, फिर भी उसे कथाकृति में नहीं रख सकता।' (नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ. 232)

इस प्रकार की आत्म-स्वीकृतियों से नए-पुराने का द्वंद्व स्पष्ट हो जाता है। नयी पीढ़ी पुरानी कथा रूढ़ियों से सर्वथा मुक्त होकर वास्तविक जीवन से जुड़ने के लिए आकुल थी। नव लेखन के इस व्यापक परिवेश को देखते हुए, नयी कविता की तर्ज़ पर नयी कहानी का प्रश्न उठना स्वाभाविक था। क्योंकि किसी भी साहित्य के लिए यह स्पृहणीय स्थिति नहीं हो सकती कि कविता तो किसी एक भावबोध पर चले और कहानी-उपन्यास आदि गद्य-कृतियाँ किसी दूसरे भावबोध के रास्ते पर। यदि समूचा नव लेखन एक ही ऐतिहासिक संदर्भ से जुड़ा हुआ है, तो जीवन-दृष्टियों के भेद और वैयक्तिक विशिष्टताओं के बावजूद समूचे नवलेखन के मूल में एक-सी बुनियादी संवेदनाओं का होना ऐतिहासिक आवश्यकता है। इस प्रकार 1956-57 का समय इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि बहुत दिनों तक अलग-अलग रहने के बाद हिंदी-कहानी समूचे नवलेखन के केंद्र में आ गई। यह समय इसलिए भी ज्यादा महत्व रखता है क्योंकि 'कहानी' नववर्षांक, 1956 में पहली बार 'नयी कहानी' की बात उठाई गई थी। 'नयी कहानी' की आवाज वस्तुतः एक रचनात्मक संभावना को देखकर उठी थी, जो आज भी नयी पीढ़ी के कहानीकारों की पहली कृतियों में साफ झलकती है। ये कृतियाँ आज भी ताजा मालूम होती हैं, क्योंकि इसके मूल में सृजनात्मक प्रयास है। एक लम्बे अवकाश के बाद हिंदी कहानी में जीते-जागते आदमी दिखायी पड़े। 'आजादी ने एक बारगी अनेक रूढ़ विचारधाराओं को निस्सार साबित कर दिया। अकेला अनुभव भले ही बहुत दूर न ले जाए, लेकिन उस समय 'निजी अनुभव' ही लेखक को एकमात्र सहारा मालूम हुआ और उसे लगा कि किसी भी कीमत पर अपनी अनुभूति क्षमता को सतत् जागृत रखना अपने जीवन और अपने सृजन के लिए अनिवार्य है।' (नामवर सिंह - नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ. 239)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक आजादी से नयी पीढ़ी ने सचमुच अपने को स्वतंत्र महसूस किया। उसे लगा कि वह स्वयं अपनी आँखों से हर चीज को देख सकता है और उसने देखा कि आजादी के साथ अंधेरे में से एक जीता जागता भारत बाहर निकल आया। उल्लेखनीय है कि बाबा, दादी, दादा आदि को लेकर इस नयी पीढ़ी ने अनेक कहानियाँ लिखी। कुछ लोगों को यह आश्चर्य हुआ कि यह कैसी नयी पीढ़ी है जो खुद पर न लिखकर पुरानी पीढ़ी के लोगों के बारे में लिखना पसंद करती है। कुछ ने इसे वर्तमान से पलायन कहा, तो कुछ ने रोमांटिसिज्म। परंतु नयी पीढ़ी का यह आत्मान्वेषण था।

19.3 साठोत्तरी कहानी का भावबोध

साठ के बाद की कहानियों में स्थिति और संबंध की धारणा में परिवर्तन हुआ, इसीलिए संबंधों के यथार्थ का चित्रण सातवें दशक की कहानी में 'नयी कहानी' से थोडा भिन्न है। नयी कहानी में जहाँ संबंधों के प्रति द्वंद्वात्मक रवैया अपनाया गया है वहाँ इस दशक की कहानियों में

दृटिगोचर होने वाला मानवीय स्थिति से मानवीय संबंध की ओर विकास सामाजिक चेतना का विस्तार है अधिक रागात्मक और अधिक प्रामाणिक। संबंधों में झलक रही सामाजिक-आर्थिक चेतना के विविध रूपों और व्यवहारों को इन कहानियों में देखा जा सकता है। 'नयी कहानी में मूल्य के स्तर पर संपूर्ण मोहभंग नहीं हो सकता था, नैतिक आस्थाएँ और विश्वास जरूर कुछ ढीले हुए थे। सातवें दशक के शुरू होने के साथ नयी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियाँ उभर आयीं जिनके कारण पुराना ढाँचा बिलकुल चरमरा गया। इससे कहानी संरचना का पूर्ववर्ती ढाँचा भी टूट गया। इन कहानीकारों ने संबंधों में प्रतिफलित हो रहे परिवर्तनों को गहराई से देखना शुरू किया। इससे संबंधों के प्रचलित रूप बदलने लगे और बंधे-बंधाएँ ढांचों में दरारें पड़ गयीं। संबंधों के स्थायित्व का 'मिथ' टूटा और कहानीकारों ने नये जीवन-यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में बदली हुई जीवन-स्थितियों और संबंधों में व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता को देखा, पहचाना और उन्हें कभी आत्मगत वस्तुगत स्तरों या कभी दोनों के द्वंद्व के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' में संबंधों के बदलाव और तनाव को विघटित स्थितियों के संदर्भ में इस ढंग से व्यक्त किया गया है कि मनुष्य की वर्तमान स्थिति के भरपूर संकेत मिलने लगते हैं। बदली हुई स्थितियाँ पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले जातीय अवशेषों और संस्कारों को चुनौती देती प्रतीत होती हैं और इससे संबंधों का परम्परागत ढाँचा अटपटा-सा लगने लगता है। स्वातंत्र्योत्तर युग में टूटते परिवेश तथा टूटते हुए व्यक्ति मन का चित्रण हुआ परंतु उसमें आदर्श का तत्व भी कमोबेश समाहित था। लेकिन इन दो दशकों (1947-70) में हुए परिवर्तनों तथा विद्रूपताओं का सूक्ष्म अंकन युगीन लेखकों ने ही किया। 1960 के बाद की कहानियों में जीवन के नए आयाम दिखाई दिए और कहानी की परख में नवीन दृष्टि का परिचय मिला। इस युग की कहानी में नयी दृष्टि, नया मुहावरा युगीन कहानीकारों की उपलबधि है। इस युग में वैयक्तिक चेतना, बौद्धिक चेतना, पाश्चात्य प्रभाव, सेक्स भावना और इनसे विकसित नए संबंध, नैतिकता के प्रति नए प्रतिमान आदि प्रवृत्तियाँ विकसित हुई। इस युग के कहानीकारों ने न तो परंपरा व मूल्यों को स्वीकार किया और न उनके महत्व का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने भोगे हुए यथार्थ के बीच से व्यक्ति के संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण किया है। आज़ का व्यक्ति हीनभावना से ग्रस्त है, संवेदनशून्य है, अवसरवादी है तो कहीं असंतोष और अंतर्द्वंद्व में भटक रहा है। कहीं फैशनपरस्त दुनिया और आधुनिकता से आक्रांत है तो कहीं उससे दूर भागने की बेचैनी है। व्यक्ति के संघर्ष, अकेलेपन, अजनबीपन, घुटन, तनाव, पति-पत्नी के संबंधों में दुराव व उनके बनते-बिगड़ते संबंधों का अंकन इस पीढ़ी के कहानीकारों ने प्रमुखता से किया है। इन्होंने एक ओर आधुनिक परिवेश की जटिलता को उजागर किया है तो दूसरी ओर सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों की अवहेलना की है।

सठोत्तर कहानीकारों में ज्ञानरंजन का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी अधिकतर कहानियों में मानवीय संबंधों के बदलाव और विघटन का बोध होता है। यह महज संबंधों की कहानियाँ नहीं हैं, बल्कि इनमें आज के व्यक्ति की मानसिकता और चिंता भी संलग्न है। इनमें प्रतिफलित होने वाला बदलाव और विघटन जीवन-स्थितियों से सीधे निष्पन्न है तथा इसी कारण संगत और प्रामाणिक है। डॉ. नरेन्द्र मोहन का कहना है कि ''ज्ञानरंजन की कहानियों में संबंधों के फलक पर न तो मनोवैज्ञानिक तथ्यों की सम्पुष्टि का प्रयत्न है और न संबंधों का संपूर्ण निषेध करने वाला आवेश। वह संबंधों की चीर-फाड़ करके, बिना कोई निष्कर्ष दिए, उन्हें स्थापित कर देता है।''(समकालीन कहानी की पहचान, पृ. 85)

वह इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि अभी संक्रांति और परिणाम की तरफ केवल शुरुआत हुई है। इस दृष्टि से ज्ञानरंजन की चार कहानियो पर विचार किया जा सकता है। ये कहानियां हैं -'शेष होते हुए', 'पिता', 'संबंध' और 'फेन्स के इधर उधर'। 'शेष होते हुए' कहानी में परम्परागत पारिवारिक बिम्ब के खंडित होते जाने की प्रक्रिया मौजूद है। घर पहुँचने पर मंझले की मनोदशा, माँ, पिता, भाई, बहन, भाभी का निहायत सामान्य, उबाऊ और ठंडा रुख-प्रेम, वात्सल्य और सौहार्द्र जैसे पारिवारिक संस्कारों के चुकते जाने की ओर संकेत करता है। परिवार के सभी सदस्य स्वयं में सिमटे हुए हैं और एक दूसरे से अलग और कटे-हुए से पड़े

हैं। पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले जातीय संस्कारों के अवशेष किस तरह नयी परिस्थितियों से टकराकर टूटते हैं और संबंधों को प्रभावित करते हैं - इसका साक्ष्य इस कहानी में मिल जाता है। आज की वास्तविकता ने परम्परा द्वारा मान्य संबंधों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है और एक हद तक इन्हें निरर्थक बना दिया है। 'सबंध' कहानी का 'मैं' एक स्थल पर कहता है - ''आप यह भी देखिए कि समय मानवीय संबंधों के सिलसिले में किस तरह से काम करता है। एक लम्बे समय तक जो स्त्री मेरे लिए केवल माँ थी अब कभी-कभी ही माँ लगती है या माँ का भ्रम।'' ज्ञान की यह विशेषता है कि वह निजी धरातल पर भोगी हुई स्थितियों को सामाजिक धरातल से संलग्न कर देते हैं। फेंस के 'इधर और उधर' में इसे देखा जा सकता है। दो पीढ़ियों के अंतर और अजनबीपन को इस कहानी में बिना भावुक हुए अभिव्यक्त कर दिया गया है। 'पिता' में दो पीढ़ियों के वैचारिक टकराव को उजागर किया गया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि ज्ञानरंजन को जैसी सफलता पारिवारिक और मानवीय संकट को उजागर करने में मिली है वैसी प्रेम-संबंधों का निरुपण करने वाली कहानियों में नहीं।

सन् 1960 के बाद कहानी के क्षेत्र में एक नया आंदोलन उठ खड़ा हुआ था जिसे 'अकहानी' आंदोलन के नाम से जाना जाता है। 'अकहानी' कथा के स्वीकृत आधारों का निषेध तथा किसी भी तरह के मूल्य-स्थापना का अस्वीकार है। यह कहानी की धारणागत प्रतीति से अलग एक अस्थापित कथाधारा है जो कहानी के सभी वर्गीकरणों, कहानी के मूल्यांकन आधारों और कहानी की पूर्व समीक्षाओं को नकारती है। इसमें मूल्यांकन की अनिवार्यता के मूल बिंदु के प्रति ही अस्वीकार निहित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अकहानी किसी तरह के मूल्यों की रक्षा करती या आग्रह रखती हुई नहीं चलती। यदि अकहानी निर्मम संबंधों की निर्मम अभिव्यक्ति है तो 'पिता' कहानी में इसका कहीं आभास नहीं मिलता। पीढ़ियों में अंतर्विरोध के बावजूद इस कहानी में एक लगाव है जो अकहानी की अवधारणा से इसे अलग करता है। ''इनकी कहानियों में संबंधों तथा स्थितियों की अमानवीयता तथा वीभत्सता का बेझिझक साक्षात्कार तथा उनके प्रति असहिष्णुता तथा असहमति है, उनके बीच खुद के टूट जाने और ध्वस्त हो जाने की तत्परता है लेकिन उन संबंधों तथा स्थितियों को नेस्त-नाबूद करके नए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, समय और परिवेश की परिकल्पना और निर्माण की दिशा में कोई सन्नद्धता और क्रियाभिमुखता नहीं है।''(91) इस तरह हम कह सकते हैं कि अतीत से मुक्ति या अतीत को अपने अर्थ में परिभाषित कर सकने की जो छटपटाहट इनकी कहानियों में व्यक्त हुई है, वह तत्कालीन जीवन की छटपटाहट है। इनमें मूल्यों और परम्पराओं का समर्थन या विरोध उतना नहीं है जितनी सहज मानवीय जीवन के प्रति लालसा। इस मानवीयता का अन्वेषण वे अन्तर्विरोधों और विसंगतियों से भरे जीवन के बीच पूरी ताकत से करते हैं। ''जिन्दगी के प्रति वे एक विचारक का रुख अपनाते हैं और ऐसी आत्म सजगता का परिचय देते हैं जिसमें सम्पूर्ण संवेदनापरक उलझावों से उत्पन्न भावुकता के स्थान पर एक सहजता और अकृत्रिमता की सृष्टि होती है।'' (समकालीन हिंदी कहानी : प्रकृति और परिदृश्य - यदुनाथ सिंह, पृ. 20)

ज्ञानरंजन में मानवीय संबंधों की जो तलाश परिलक्षित होती है वह उनके समकालीन अन्य कहानीकारों में परिलक्षित नहीं होती। ममता कालिया की कहानियों में रिश्ते तड़क रहे हैं, संबंध टूट रहे हैं लेकिन इनकी खोज या तलाश नहीं है। रमेश बक्शी में परम्परा का विरोध है और विसंगति का बोध भी। रवीन्द्र कालिया की कहानी में आधुनिकता का बोध नगर-बोध से अधिक गहरे जुड़ा हुआ है। 'बड़े शहर का आदमी' में वह बाथरुम में नहाने के लिए मजबूर है जबकि 'पिता' कहानी में पिता बाथरुम की बजाय बाहर लगे नल पर नहाना पसंद करते हैं।

'अकहानी' कथा की विरोधी है। वह कोई कथा नहीं गढ़ती बल्कि रोजमर्रा की जिंदगी के कुछ सहज घटित संदर्भों और संवेदनाओं को पकड़ कर प्रस्तुत कर देती है। हिंदी अकहानी आंदोलन पश्चिमी अर्थों में अतिवादी नहीं है। इसने कहानी की संरचना का चाहे जितना विरोध किया हो, व्यवहार में उससे बहुत हद तक जुड़ी हुई है। अकहानी में वस्तु और मूल्य के स्तर पर भी निषेध का स्वर मुखर है। वस्तु के स्तर पर उसने प्रायः सामाजिक संघर्षों से संबंधित विषयों को न ग्रहण कर स्त्री-पुरुष के यौन प्रसंगों को ही ज्यादा ग्रहण किया है और मूल्य के स्तर पर उसने

पहले के समस्त मूल्यों का ही नहीं, बल्कि साहित्य में ही मूल्यों के अस्तित्व का निषेध कर दिया है। समकालीन जीवन के यौन-संदर्भों तथा यौनेतर संदर्भों की संबंधहीनता, व्यर्थता, भयावहता, विसंगतिबोध, मूल्यहीनता आदि को अभिव्यक्ति देने वाली कुछ प्रमुख कहानियाँ हैं 'पिता दर पिता', (रमेश बक्शी), 'नौ साल छोटी पत्नी', 'एक डरी हुई औरत' (रवीन्द्र कालिया), 'शेष होते हुए', 'छलाँग' (ज्ञानरंजन) आदि। जहाँ तक ज्ञानरंजन की पिता कहानी का संबंध है, यहाँ मूल्यों के प्रति विद्रोह का भाव होते हुए उनका पूरी तरह निषेध नहीं दिखायी देता। अर्थात् पूर्ववर्ती कहानी से यह सर्वथा विच्छिन्न नहीं है। कहानी में परम्परागत पारिवारिक बिंब के खंडित होते जाने की प्रक्रिया मौजूद है। घर पहुँचने पर मंझले की मनोदशा, माँ, पिता, भाई, बहन, भाभी का निहायत सामान्य, उबाऊ और ठंडा रुख, प्रेम, वात्सल्य और सौहार्द जैसे पारिवारिक संस्कारों के चुकते जाने की ओर संकेत करता है। परिवार के सभी सदस्य स्वयं में सिमटे हुए हैं और एक दूसरे से अलग और कटे-हुए-से पड़े हैं। पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले जातीय संस्कारों के अवशेष किस तरह नयी परिस्थितियों से टकराकर टूटते हैं और संबंधों को प्रभावित करते हैं - इसका साक्ष्य इस कहानी में मिल जाता है। आज की वास्तविकता ने परम्परा द्वारा मान्य संबंधों पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है और एक हद तक इन्हें निरर्थक बना दिया है। 'संबंध' कहानी का 'मैं' एक स्थल पर कहता है 'आप यह भी देखिए कि समय मानवीय संबंधों के सिलसिले में किस तरह से काम करता है। एक लम्बे समय तक जो स्त्री मेरे लिए केवल माँ थी अब कभी-कभी ही माँ लगती है या माँ का भ्रम।' ज्ञान की यह विशेषता है कि वह निजी धरातल पर भोगी हुई स्थितियों को सामाजिक धरातल से संलग्न कर देते हैं। फेंस के 'इधर और उधर' में इसे देखा जा सकता है। दो पीढ़ियों के अंतर और अजनबीपन को इस कहानी में बिना भावुक हुए अभिव्यक्त कर दिया गया है। 'पिता' में दो पीढ़ियों के वैचारिक टकराव को उजागर किया गया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि ज्ञानरंजन को जैसी सफलता पारिवारिक और मानवीय संकट को उजागर करने में मिली है वैसी प्रेम-संबंधों का निरुपण करने वाली कहानियों में नहीं।

19.4 पारिवारिक संबंधों के बदलते स्वरुप

'ज्ञानरंजन में अनुभव की संश्लिष्टता है। यह संश्लिष्टता रचना को गहराई देती है। आज के परिवेश के बीच औसत आदमी की जिंदगी और जीने के पैटर्न को जिस तत्परता से उन्होंने व्यक्त किया है, उसके पीछे दृष्टि की गहराई स्पष्ट है।' (डॉ. धनंजय, आज की हिंदी कहानी, पृ. 101)

माँ, बहिन, पिता और भाई से अलग होते हुए आज के आदमी को ज्ञानरंजन ने अपनी कहानियों के माध्यम से चित्रित किया है। 'पिता' कहानी में पुरानी पीढ़ी का अपने समकालीन परिवेश से कटते चले जाने का दर्द चित्रित है। इसमें बदली हुई मानसिकता का अंकन है। यह उस मानसिकता के साथ चल पाने में असमर्थ पिता की कहानी है। इसमें दो पीढ़ियों के संघर्ष का चित्रण है। ज्ञानरंजन की कहानियों में मानवीय संबंधों की सूक्ष्म पहचान मिलती है।

'जब वह घूम-फिर कर लौट रहा था तो पिता अपना बिस्तर बाहर लगाकर बैठे थे। कनखी से उसने उन्हें अपनी गंजी से पीठ का पसीना रगड़तें हुए देखा और बचता हुआ वह घर के अंदर दाखिल हो गया। उसे लगा कि पिता को गर्मी की वजह से नींद नहीं आ रही है। लेकिन उसे इस स्थिति से रोष हुआ। सब लोग, पिता से अंदर पंखे के नीचे सोने के लिए कहा करते हैं पर वह जरा भी नहीं सुनते। हमें क्या, भोगें कष्ट।'

यहाँ दो पीढ़ियों का अंतर्विरोध स्पष्ट हो जाता है। कहानी का 'वह' अपने बाप को कनखी से क्यों देखता है? क्या उसमें इतना साहस नहीं है कि बाप से आँख मिला सकें? दरअसल बात ऐसी नहीं है। वह पिता के अटपटे कार्यों या जिद से उपजे रोष को काबू में रखने के लिए एक तरह की तटस्थता ओढ़ लेता है। यह तटस्थता कहानीकार की भी हो सकती है। इससे कहानी और अधिक धारदार या पैनी हो गयी है। पिता एक चट्टान बन कर रास्ते में पड़े हैं

जिन्हें हिलाकर नहीं उनसे बचकर ही निकला जा सकता है। वे जो कुछ भी करते हैं अपनी इच्छा से करते हैं चाहे उनका व्यवहार किसी को अच्छा लगे या बुरा। इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं। उनकी अपनी मान्यताएँ हैं, विश्वास हैं। इसी अर्थ में 'पिता' कहानी में पूरा परिवार पिता के व्यक्तित्व से आक्रांत है। कहानी में पुरानी रुढ़ियों से चिपके रहने और नए को स्वीकार न करने के अहंकार की जड़ता का चित्रण है। ''बड़ी भयंकर गर्मी है एक पत्ता भी नहीं डोलता'', पिता के इस व्यर्थ और तकरीबन उलाहना भरे वाक्य से गर्मी तो कम होने से रही। हाँ, यहाँ उनका हठ और भी प्रत्यक्ष हो जाता है कि इतनी भयंकर गर्मी के बावजूद वे पंखे के नीचे नहीं सोएगें। दरअसल, पिता पुराने ख्यालात के आदमी हैं, उस ज़माने में जब चोर सेंध लगाकर घरों को लूट लिया करते थे। आज वह बात नहीं रह गई है। लेकिन पिता को अब भी विश्वास है कि उनके खाँसने-खँखारने से चोर-उचक्के भाग जाएँगे। शायद उन्हें यह भी विश्वास हो कि पंखे के नीचे उनके न सोने से बिजली के बिल में कमी आएगी। यह सोच उनकी आदत का एक हिस्सा बन चुकी है। तभी तो-

'चौक की तरफ से आते वक्त चार आने की जगह तीन आने और तीन आने में तैयार होने पर दो आने में चलने वाले रिक्शे के लिए पिता घंटे-घंटे खड़े रहेंगे। धीरे-धीरे सबके लिए सुविधाएँ जुटाते रहेंगे, लेकिन खुद उसमें शामिल नहीं होंगे। पहले लोग उनकी काफी चिरौरी किया करते थे, अब लोग हार गए हैं। जानने लगे हैं कि पिता के आगे किसी की चलेगी नहीं।' इस तरह एक तरफ पिता को यह लगता है कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह उचित है। दूसरी ओर परिवार की इज्जत मिट्टी में मिला देना चाहते हैं। पुरानी पीढ़ी में इस तरह की प्रवृत्ति आमतौर पर देखी जाती है। दूसरों के लिए सुविधाएँ जुटाने वाली यह पीढ़ी खुद के लिए खर्च करना फालतू समझती है। घर में लड़के सुविधाएँ जुटाते हैं पर पिता उनसे अनासक्त हैं और बच्चों का अनुरोध नहीं मानते परिवार के सदस्य हार जाते हैं और पुत्र को लगता है - 'पिता एक बुलंद भीमकाय दरवाजे की तरह खड़े हैं जिससे टकरा-टकराकर हम निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं।'

जीवन के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि आज पुराने रिश्ते गायब हो गए हैं। उनकी जगह रिश्तों ने एक तरह से अमूर्त रुप धारण कर लिया है। बॉस-कर्मचारी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र के रिश्ते काफी कमजोर हो गए हैं। सभी लोग प्रतिमा-भंजन में लगे हुए प्रतीत होते हैं। माँ-बाप के प्रतिमा-भंजन के दो कारण दिखाई देते हैं - एक तो यह है कि पुरानी पीढ़ी के लोग नयी की भावनाओं को न समझकर उस पर अपनी भावनाओं को लादना चाहते हैं, दूसरे यह कि दो पीढ़ियों के बीच की खाई इतनी चौड़ी हो गई है कि उन्हें पाटा नहीं जा सकता।

'पिता' कहानी में पिता के सुख-सुविधा के लिए किए गए प्रयास बेमानी साबित होते हैं। पिता वाश-बेसिन में मुँह-हाथ कभी नहीं धोते न ही 'बाथरुम' में खासतौर से उनकी खुशी या सुविधा के लिए लगाए गए 'शावर' के नीचे कभी नहाते हैं। नयी चीजों के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाते और अपने स्वभाव और आदत के अनुरुप 'तेल चुपड़े बदन पर बाल्टी-बाल्टी पानी डालते' देखे जाते हैं।' पिता ने जब कोई उत्साह प्रकट न किया तो दादा-भाई मन ही मन काफी निराश हो गए। एक-दो बार उन्होंने हिम्मत करके कहा भी, ''आप अंदर आराम से क्यों नहीं नहाते?'' तब भी पिता आसानी से उसे टाल गए।

पिता नए के प्रति इतने तटस्थ या अनासक्त हैं कि बिस्कुट और फलों को देखकर अजीब वितृष्णा से मुँह बना लेते हैं -

''लड़कों द्वारा बाजार से लाई गई बिस्किटें महँगे फल पिता कुछ भी नहीं लेते। कभी लेते भी हैं तो बहुत नाक-भौं सिकोड़कर, उसके बेस्वाद होने की बात पर शुरु में ही जोर दे देते हुए। अपनी अमावट, गजक और दाल-रोटी के अलावा दूसरों द्वारा लाई गई चीजों की श्रेष्ठता से वह कभी प्रभावित नहीं होते। वह अपना हाथ-पाँव जानते हैं, अपना अर्जन, और उसी में उन्हें संतोष है। वे पुत्र, जो पिता के लिए कुल्लू का सेब मँगाते और दिल्ली एम्पोरियम से बढ़िया धोतियाँ

मँगाकर उन्हें पहनाने का उत्साह रखते थे, अब तेजी से पिता-विरोधी होते जा रहे हैं।'

इस संदर्भ में जो तथ्य उभर कर सामने आते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि पुरानी पीढ़ी अपनी पसंद ओर मान्यताओं को लेकर किसी प्रकार की दुविधा में नहीं है। उसे अपना चुनाव श्रेयस्कर लगता है जबकि दूसरो की पसंद में अनेक खामियाँ दिखाई देती हैं। पुरानी पीढ़ी में एक महत्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि अपनी आय के अनुरुप ही वह खर्च करने की हिमायती हैं और उतने में ही वह संतुष्ट रहती है अर्थात् उसकी इच्छाएँ कुल मिलाकर सीमित हैं जिन्हें वह अपनी कमाई से पूरा कर लेती है। जबकि नयी पीढ़ी की इच्छाओं का विस्तार काफी होता है और आय के साधन आमतौर पर सीमित। मध्यवर्ग की त्रासदी यही है कि उसकी इच्छाएँ-आकांक्षाएँ तो अनन्त हैं पर आमदनी कम। तब ऐसे में कुंठा और हताशा की प्रवृत्ति का बलवती होना स्वाभाविक है। आधुनिक मध्यवर्गीय समाज में ऐसा बहुतायत से देखने को मिलता है। सीमित-असीमित का यह विस्तार पुराने और नए के संघर्ष के रुप में देखा जा सकता है। दो पीढ़ियों का संघर्ष उनके बीच के फासले को और ज्यादा बढ़ा देता है। आज इस दुर्लभ्य खाई को पाटना बहुत ही मुश्किल लगता है। 'पिता कहानी में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है। डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं - ज्ञानरंजन की पिता कहानी भारतीय कहानी है। इसमें भी दो पीढ़ियों के बीच दुर्लभ्य खाई है। लेकिन यह खाई इस समाज की है, इस देश की है। यह पिता पाँचवें दशक के बाबा, दादी, माई वगैरह से एकदम अलग है। उसके प्रति कोई लिजलिजी भावुकता का चित्रण इसमें नहीं है, रुमानी संसक्ति नहीं है। पिता के इस स्वरुप को, पुरानी पीढ़ी के चट्टान-सदृश व्यक्तित्व को इस नए परिप्रेक्ष्य में पहली बार रखा गया है। (समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि, पृ. 93)

यहाँ दो विरोधी अस्मिता की टकराहट है। पुत्रों को लगता है कि पिता एक बुलंद दरवाजे की भांति खड़े हैं जिससे टकरा-टकराकर हम निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं। पुरानी पीढ़ी से विचारों के न मिलने उसकी नासमझी से नयी पीढ़ी का क्रुद्ध होना, व्यंग्य कसना एक सच्चाई है। नयी पीढ़ी का पिद्दीपन और भी गहरी सच्चाई है। सारी सुख-सुविधा के भोग के बावजूद वह इतना अधिक आत्मकेंद्रित है कि दूसरे से मिल पाने में असहाय है। वह चिल्लाकर यह भी नहीं कह सकता कि पिता तुम अहंवादी हो, पाखंडी हो, क्योंकि इससे उसका कुछ घट जाने का डर है। नयी पीढ़ी की अस्मिता की तलाश इतनी कमजोर और आत्मकेंद्रित है कि उसकी कोई अस्मिता हीं नहीं बन पाती।

बूढ़े पिता को रात में नींद नहीं लगती। वे या तो आवाज के सहारे रात के अंधेरे में आम बटोरते हैं अथवा भौंकते कुत्तों पर बरस पड़ते हैं। यह शायद उनकी उम्र का तकाजा है। बुढ़ापे में संग्रही वृत्ति बलशाली हो चली है या कमजोरी के कारण खीझ बढ़ गयी है। युवा पीढ़ी को यह व्यवहार बहुत अखरता है। उसे तो अपनी अस्मिता की चिंता सताती है -

'कई बार कहा, मुहल्ले में हम लोगों का सम्मान है, चार-भले लोग आया जाया करते हैं, आपको अंदर सोना चाहिए, ढंग के कपड़े पहनने चाहिए और चौकीदारों की तरह रात को पहरा देना बहुत भद्दा लगता है।'

पर पिता है कि अपनी जिद पर अड़े हुए हैं। दरअसल नयी पीढ़ी की असली चिंता तो अपने सम्मान को लेकर है। उन्हें भय है कि पिता के अटपटे कार्यों से उनकी अस्मिता, पहचान या सम्मान को ठेस पहुँचती है। लेकिन सच तो यह है कि युवा पीढ़ी जिस भटकाव से गुजर रही है उसमें उसको अपनी पहचान बनाना ही मुश्किल हो गया है।

अभी तक उसने ऐसे जीवन-मूल्यों की तलाश नहीं की, जो उसके जीवन को समुचित गतिशील दिशा प्रदान कर सकें। पुरानी पीढ़ी से उसका टकराव जारी है पर वह इतना तो सचेत रहता ही है कि यह टकराव निष्ठुरता की हद को न छू ले क्योंकि उस पीढ़ी से इसे बहुत कुछ पाना है।

'अगर कोई शीत-युद्ध न होता पिता और पुत्रों के बीच, तो वह उन्हें जबरन पंखे के नीचे लाकर सुला देता। लेकिन उसे लगा कि उसका युवापन एक प्रतिष्ठा के आगे कभी बहुत मजबूर, कभी कमजोर हो जाता है और उसे भुगत भी रहा है। दरअसल उसका जी अक्सर चिल्ला उठने को हुआ है। पिता, तुम हमारा निषेध करते हो। तुम ढोंगी हो, अहंकारी-वज्र अहंकारी, लेकिन वह कभी चिल्लाया नहीं।'

कहानी का 'वह' पिता के प्रति कटु है, उसके मन में विद्रोह है फिर भी वह पिता का खुलकर विरोध नहीं कर पाता तो इसलिए कि उसे पिता से अभी बहुत कुछ पाना है। अभी उसके सामने लम्बी जिंदगी खड़ी है और वह पिता को नाराज कर अपना नुकसान नहीं करना चाहता। अर्थात् स्वार्थ एक ऐसा तत्व है जो उसे पिता से बाँधे हुए है अन्यथा वह पिता को दुत्कारने और लानत-मलामत करने से शायद नहीं चूकता। यह हमारे समय का यथार्थ है। पुरानी पीढ़ी अपने बाल-बच्चों के आगे हाथ नहीं फैलाती वह उतना ही पैर पसारना चाहती है जितनी उसकी औकात है। नयी पीढ़ी अपनी औकात से ज्यादा खर्च करने में विश्वास करती है, इसलिए हमेशा परेशान रहती है, कर्ज में डूबी हुई, असंतुष्ट और खिन्न मन पुरानी पीढ़ी परिस्थितियों का मुकाबला करने में सक्षम है जबकि नयी पीढ़ी विषम परिस्थितियों में बौखला जाती है, पलायन करने लगती है। 'केवल हल्के-हल्के हाथ के पंजों से सिर के बालों को दबोचकर रह गया। मौसम की गर्मी से कहीं अधिक प्रबल पिता हैं।' दरअसल ज्ञानरंजन बौद्धिक संवेदना से सर्वथा दूर सहज संवेदन को सीधे अभिव्यक्त करते हैं। उनमें वह तटस्थता है जो उन्हें बौद्धिक बना देती है और पाठक को दूर तक अर्थ-ध्वनियों के बीच अकेला छोड़ देती है। ज्ञानरंजन सही मायने में संबंधों के कहानीकार हैं - अपनी पीढ़ी के किसी भी कहानीकार से अधिक। ज्ञानरंजन उन कहानीकारों में नहीं शामिल किए जा सकते, जिनकी संवेदना एक साथ दो-तीन स्तरों पर झूलती चलती है। इसीलिए इनकी कहानियों में संवेदना की दरारे नहीं मिलती और इसी कारण उनकी भाषा एक बार भी यह शंका नहीं होने देती कि कहानी कहीं भी अपने साथ झूठ बोल रही है। 'पिता' कहानी का एक अंश उद्धृत है -

'इस घटना को याद करके और पिता के प्रति खिन्न हो जाने पर भी उसने चाहा कि वह खिड़की से पिता को अंदर आकर सो रहने के लिए आग्रहपूर्वक कहे, लेकिन वह ऐसा नहीं कर सका। वह असंतोष और सहानुभूति, दोनों के बीच असंतुलित भटकता रहा।' यह असंतुलन और भटकाव ही नयी पीढ़ी की नियति है। विचारों में कहीं कोई एकसूत्रता नहीं दिखाई देती। सोच के स्तर पर एक तरह की तोड़-फोड़ जारी है।

प्रस्तुत कहानी में पिता नवाचार के विरोध में खड़े हैं। उनकी सोच व समझ का एक ढाँचा है। वह भले ही पुराना हो, रुढ़िग्रस्त हो, पिता का उसमें अटूट विश्वास है। यह ढाँचा उनके स्वभाव और संस्कार के अनुरुप है। हे राम तू ही सहारा है - ऊंची आवाज में कहकर जम्हाई लेना पुरानी पीढ़ी के संस्कार का द्योतक हैं। आधुनिक सुविधाओं को नजर अंदाज करने वाले पिता कैसी-केसी युक्तियों का सहारा लेते हैं, इसके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करना प्रासंगिक होगा।

'पिता ने अपना बिस्तरा गोल मोड़कर खाट के एक सिरे पर कर लिया है और वही सुराही से प्याले में पानी ले-लेकर अपनी खटिया की बाध तर कर रहे हैं। सुराही से खाट तक और खाट से सुराही तक बार-बार आते-जाते हैं। बहुत बार ऐसा करने पर खाट का बाध तर हुआ है। इसके बाद उन्होंने पानी पिया और पुनः एक बड़ी आवाजदार जम्हाई के साथ लिपटे हुए बिस्तरे कासिरहाना बना निखरी खटिया पर लेट गए।'

पिता परिस्थितियों से लड़ते हैं, लड़ना जानते हैं। वे पुरानी पीढ़ी के प्रतीक हैं। नयी पीढ़ी परिस्थितियों से मुकाबला नहीं कर पाती। वह भागती है, इधर-उधर भटकती है, बेचैन आत्मा की शांति के लिए पर शांति कोई मिठाई तो है नहीं जिसे पैसे देकर खरीदा जा सके। यह अशांत मानस नयी पीढ़ी की प्रमुख विशेषता है।

इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आजादी के बाद पारिवारिक संबंधों में बदलाव के जो चिह्न दिखायी देते हैं, हिंदी कहानी में उनकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति मिलती है। जैसे-जैसे परम्परागत संबंध टूटते-बिखरते गए और उनकी जगह नए संबंध बनने लगे, हिंदी कहानी की संवेदना में भी वैसे ही बदलाव आता गया। जैसा कि हमने ऊपर ज्ञानरंजन के बारे में कहा है कि वे संबंधों को निरुपित करने वाले महत्वपूर्ण लेखक हैं तो इससे यह भी समझ लेना चाहिए कि सातवें दशक तक आते-आते हमारे पारिवारिक संबंधों में बहुत बदलाव आ चुका है। यह परिवर्तन संयुक्त परिवार की टूटन, स्त्री-पुरुष संबंधों में तनाव एवं अलगाव, दो पीढ़ियों की टकराहट आदि के रुप में हमारे सामने आया जहाँ तक संयुक्त परिवार का प्रश्न है, अव्वल तो यह कि आज संयुक्त परिवार का अस्तित्व खत्म होने के कगार पर है, जो कुछ परिवार इस तरह के बचे भी हैं वहाँ पर भी पिता-पुत्र, भाई-भाई, माँ-बहू के बीच अजीब तनाव की स्थिति है। 'पिता' कहानी में संयुक्त परिवार में जिए जा रहे संबंधों को रेखांकित करने का प्रयास दिखाई देता है। यहाँ पिता रुढ़ियों से चिपके हैं, रुठी हैं, कंजूस हैं तो भी स्वाभिमानी हैं। परिवार के सुख से सुखी रहने वाले संतोष वृत्ति के धनी पिता। वे कठोर हैं पर निर्दय नहीं, मितव्ययी हैं पर अमानवीय नहीं, अंदर से दयालु हैं। नयी पीढ़ी उनकी अटपटी हरकतों को इसलिए नहीं सहन करती कि पिता वृद्ध हैं, श्रद्धेय हैं, बल्कि वह तो अपने लाभ के लिए उनके असंगत से लगने वाले व्यवहार को सहन करती है। यह स्वार्थ-वृत्ति नयी पीढ़ी को कहीं अधिक कठोर, निर्दय, महत्वाकांक्षी बना देती है। जिससे उसकी चेतना सुसंगति को नहीं प्राप्त कर पाती। ज्ञानरंजन इन चीजों को गइराई से देखने वाले रचनाकार हैं।

19.5 सामाजिक यथार्थ

सातवें दशक की हिंदी कहानी एक बदले हुए भाव लोक की कहानी है, जिसका केंद्रीय स्वर अतीत से मुक्त होकर वर्तमान में जीने के आग्रह का स्वर है। ये लेखक किसी परंपरागत नैतिकता या सामाजिक प्रतिबद्धता के कायल नहीं हैं, ये सत्य को अपनी आँखों से देखने में ही अधिक विश्वास करते हैं और चूँकि किन्हीं भी दो व्यक्तियों द्वारा किया गया सत्य का साक्षात्कार एक नहीं होता। सातवें दशक की इस कहानी के अंदर हर लेखक अपने ढंग से जूझता या संघर्ष करता दिखाई देता है और उसके संप्रेषित सत्य को दूसरों द्वारा संप्रेषित सत्य से मिलाकर कुछ समान सूत्रों को भले ही खोजा जा सके, उसमें किसी प्रकार की एकरुपता की तलाश व्यर्थ होगी। आजादी के बाद पारिवारिक संबंधों में आने वाला परिवर्तन सामाजिक यथार्थ का महत्वपूर्ण पहलू है। ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' को केंद्र में रखते हुए सामाजिक यथार्थ का विवेचन करना हमारा अभीष्ट है।

सातवें दशक की शुरुआत के साथ ही नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ उभरने लगी थीं, जिसके कारण पारम्परिक मूल्यों वाला ढाँचा चरमरा गया इससे कहानी संरचना का पुराना ढाँचा भी टूट गया। इन लेखकों ने कहानी को अतीत के मूल्यबोध से छुटकारा दिलाया। वह जीवन स्थितियों के यथार्थ को समझने में प्रवृत्त हुआ। यह यथार्थ स्थिति मूलक था इसीलिए सामाजिक समस्याओं का बतौर समस्या के चित्रण- निरुपण करने वाली कहानियाँ इस दौर में नहीं मिलेंगी पर समाज यहाँ अनुपस्थित नहीं है। इस दशक के कथाकार के लिए अपने समय और समाज की स्थितियों का तल्ख यथार्थ सबसे बड़ी सच्चाई बना जिसका सामना करना उसके लिए जरुरी हो गया। इन कहानीकारों ने पारंपरिक मूल्यों के प्रति विरक्ति, वितृष्णा या लापरवाही की मुद्रा अपनायी। निश्चय ही यह अतीत से, अतीत के मूल्यों से मुक्ति की शुरुआत थी। यह वर्तमान की घिनौनी, क्रूर और भयावह स्थितियों के प्रसंग में, नए सिरे से मूल्यों की जाँच-पड़ताल और परीक्षण की दृष्टि थी।

'पिता' में 'वह' की झुंझलाहट, असंतोष, घुटन और अनास्था समूचे युग की प्रतिनिधि प्रवृत्ति मानी जा सकती है। नयी पीढ़ी ऐसा ही अनुभव करती है। एक तरफ बेरोजगारी की मार से प्रतिक्षण टूटता-बिखरता युवा वर्ग नवीन परिस्थितियों के साथ चल नहीं पा रहा है दूसरी तरफ वह पुरानी पीढ़ी की जिद से आक्रांत है। 'पिता' में 'वह' गर्मी से त्रस्त तो है ही, साथ में पिता

का व्यवहार भी चैन नहीं लेने देता। वह खीझ उठता है। पिता की स्थिति पर उसे रोष होता है क्योंकि यह स्थिति जान-बूझकर पिता ने खुद पैदा की है। वे चाहते तो इससे छुटकारा पा सकते थे। वह तो चाहते हुए भी उन स्थितियों से मुक्त नहीं हो पाता है, जिसमें रहने के लिए वह मजबूर है, जहाँ से निकलने के लिए वह कसमसा रहा है। अगर हम यह कहें कि सातवें दशक की हिंदी कहानी सामाजिक स्तर पर ही नहीं, व्यक्तिगत स्तर पर भी संबंधों के परंपरागत रुप को स्वीकार कर नहीं चलती तो अत्युक्ति न होगी। व्यक्तिगत स्तर पर संक्रांति और संक्रमण की यह प्रक्रिया इतनी तेजी से चल रही है कि उसने संबंधों के पूरे परिप्रेक्ष्य को ही बदल दिया है लेकिन यह बदलाव बाह्य कम, आंतरिक ज्यादा है।

समकालीन कहानियों में दो पीढ़ियों के बीच टकराव के जो स्वर उभरते हैं उसका एक प्रमुख कारण है नयी पीढ़ी की बनावटी जिंदगी और दिखावे के लिए फालतू खर्च। नयी पीढ़ी इसे अपनी शान और इज्जत में इजाफा समझती है, पुरानी पीढ़ी इसे निहायत फालतू काम समझती है। 'पिता' कहानी से एक उद्धरण देना प्रासंगिक होगा 'मुहल्ले में हम लोगों का सम्मान है, चार भले लोग आया जाया करते हैं, आपको अन्दर सोना चाहिए, ढंग के कपड़े पहनने चाहिए और चौकीदारों की तरह रात को पहरा देना बहुत ही भद्दा लगता है। लेकिन पिता की अड़ में कोई झोल नहीं आता। उल्टा-सीधा, पता नहीं कहाँ किस दर्जी से कुरता-कमीज सिलवा लेते हैं। टेढ़ी जेब, सदरी के बटन ऊपर-नीचे लगा, सभा-सोसायटी में चले जाएँगे। घर भर को बुरा लगता है।'

यह है एक आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार का यथार्थ। यहाँ नयी पीढ़ी की चिंता बहुत ही साफ-साफ दिखायी देती है। इस चिंता के मूल में है - दिखावापन। चूँकि आमतौर से मध्यवर्गीय परिवारों की आमदनी उतनी नहीं होती जितनी उसकी इच्छाएँ फैली होती हैं। ऐसे में वह अपनी इच्छा आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अनैतिक काम करने से भी पीछे नहीं हटता। उसकी इच्छाएँ इसी दिखावेपन को अपने अंदर संजोये होती है। नयी पीढ़ी इस मिथ्या प्रदर्शन और दम्भ से ग्रस्त है और इसके पीछे पागलों की तरह दौड़ रही है। अन्यथा कोई कारण नहीं कि अपने ढंग से रहने वाले पिता की दिनचर्या और रहन-सहन को देखकर उसे पिछड़ेपन का बोध होता है और वह इस स्थिति से घुटन महसूस करता है। उसकी अधिकांश ऊर्जा इसी चिंतन में खर्च हो जाती है तब उसे रचनात्मक कार्यों की ओर प्रेरित करने वाली इच्छाशक्ति निश्चित रूप से कमजोर होगी। अनास्था एवं घुटन इन्हीं स्थितियों के परिणाम है। 'पिता' कहानी का 'वह' लगातार तनाव से गुजरता है। उसे लगता है कि घर में इतनी सुविधाएँ मौजूद हैं, लोग पंखे के नीचे सो रहे हैं, अच्छे खाने और अच्छे कपड़े पहन रहे हैं और पिता इन सबसे बिल्कुल निरपेक्ष रहते हैं तो जानबूझकर उसकी या परिवार की उपेक्षा करते हैं। उसे यह भी लगता है कि पिता परिवार की अवहेलना कर उन्हें दुखी करना चाहते हैं। और 'वह' पिता के इस व्यवहार से चिंतित,तनावग्रस्त, क्रुद्ध और खीझा हुआ रहता है। उसे शायद यह नहीं मालूम है कि पिता अपने स्वभाव, संस्कार और आदत के वशीभूत ऐसा करते हैं जो दूसरों को अटपटा लगता है। क्या पिता की आदतों को बदला जा सकता है? पिता के व्यवहार में उनके अनुभव भी तो शामिल हैं। शायद पिता उन अनुभवों का सहारा लेना चाहते हों बहरहाल, यह तो तय है कि परिवार के लिए तमाम सुविधाएँ जुटाने वाले पिता अगर खुद उन सुविधाओं में शामिल नहीं होते हैं तो ऐसा किसी को दुखी करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी आदत से मजबूर होकर करते हैं। नयी पीढ़ी अपनी प्रदर्शनप्रियता की झोंक में इसे अपनी उपेक्षा समझ बैठती है। दो पीढ़ियों के बीच यही तत्व तनाव और अलगाव का कारण बनता है। इसमें एक का अनुभव और दूसरे की अनुभवहीनता भी शामिल है।

इसे थोड़ा और आगे बढ़ाकर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसमें पुरानी पीढ़ी का अतीत के प्रति लगाव और नयी पीढ़ी का अतीत से मुक्ति का भाव प्रकट होता है। अतीत या परंपरा अपने समग्र रूप में अप्रासंगिक या त्याज्य नहीं होती, उसमें बहुत कुछ ग्राह्य भी होता है, भविष्य को निर्दिष्ट करने के सूत्र भी उसमें समाहित होते हैं। नवाचार की आंधी इस पूरी परम्परा में बहा ले जाए तो मूल्य गड्डमड्ड तो होंगे ही। लगभग यही स्थिति हमारे समाज की है। खासतौर से

युवा पीढ़ी के संदर्भ में यह बात ज्यादा लागू होती है। 'पिता' कहानी में परिवार वालों की नसीहतों और उलाहनों से चिढ़कर पिता जो कुछ भी कहते हैं उसमें बहुत गहरे अर्थ संकेत छिपे हैं

'लोगों के बोलने पर पिता कह देते हैं, 'आप लोग जाइए न भाई, कॉफी हाउस में बैठिए, झूठी वैनिटी के लिए बेयरा को टिप दीजिए, रहमान के यहाँ डेढ़ रुपए वाला बाल कटाइये, मुझे क्यों घसीटते हैं।' लोगों का बोलना चुटकी भर में धरा रह जाता है। पिता वैसे तो चुप रहते हैं, लेकिन जब बात बहस में उन्हें खींचा जाता है, तो काफी करारी और आक्रामक बात कह जाते हैं।'

यहाँ हम देखते हैं कि पिता को सबसे ज्यादा चिढ़ मिथ्या-प्रदर्शन से है। यह उनके आपसी संबंधों को बहतु गहरे प्रभावित करता है। इसमें एक पक्ष अपराध बोध से घिर जाता है दूसरा विजयी मुद्रा में गीता पढ़ने लगता है अथवा बाजार करने चला जाता है। अर्थात् एक क्षण ऐसा आता है जब संवादहीनता की स्थिति पैदा हो जाती है। यह दूसरी बात है यह स्थिति शाश्वत नहीं रहती, खंडित होती है फिर भी पिता और परिवार के बीच एक रेखा खिंच जाती है जिसे पार करना दोनों के लिए असंभव प्रतीत होता है।

'सुधीर ने कहा, कपड़ा कीमती है, चलिए, एक अच्छी जगह में आपका नाप दिलवा दूँ। वह ठीक सिएगा, मेरा परिचित भी है।'

इस बात पर पिता ने काफी हिकारत उगली। वह चिढ़ उठे, 'मैं सबको जानता हूँ, वही म्युनिसिपल मार्केट के छोटे-मोटे दर्जियों से काम कराते और अपना लेवल लगा लेते हैं साहब लोग, मैंने कलकत्ते के 'हाल एंडरसन' के सिले कोट पहने हैं अपने जमाने में, जिनके यहाँ अच्छे-अच्छे यूरोपियन लोग कपड़े सिलवाते थे। ये फैशन-वैशन, जिसके आगे आप लोग चक्कर लगाया करते हैं, उसके आगे पाँव की धूल है। मुझे व्यर्थ पैसा नहीं खर्च करना है।' कितना परस्पर विरोधी तर्क किया है पिता ने। ऐसा वह अपनी जिद को सर्वोपरी रखने के लिए किया करते हैं। फिर सुधीर ने भी कपड़ा छोड़ दिया। 'जहाँ चाहिए सिलवाइये या भाड़ में झोंक आइये हमें क्या। वह धीमे-धीमे बुदबुदाया।'

'पिता' कहानी के इस अंश में दो पीढ़ियों के वैचारिक संघर्ष को लक्षित किया जा सकता है। नयी पीढ़ी चीजों के महत्व को समकालीन संदर्भ में मूल्यांकित करती है। वस्तुओं की कीमत के आधार पर उसके महत्व को रेखांकित करती है। इस संदर्भ में यह कहना गलत न होगा कि नयी पीढ़ी के लिए वे ही वस्तुएँ या कि मनुष्य अपना मूल्य रखते हैं जो उसके तात्कालिक हितों की पूर्ति में सहायक हों। सस्ते कपड़े हों या पुरानी वस्तुएँ अथवा बूढ़े, किसी पीढ़ी के लिए बहुत महत्व नहीं रखते। दूसरी तरफ पुरानी पीढ़ी अपने बीते कल को सुनहरे सपनों की तरह सँजोये रहती है। उन्हें यह भली प्रकार मालूम है कि वे बीते हुए दिन फिर वापस नहीं आ सकते परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं। परिस्थितियों की अपनी माँग होती है। मनुष्य का व्यवहार बहुत हद तक इनसे तय होता है। पुरानी पीढ़ी अतीत के मोह का त्याग नहीं कर पाती। नयी पीढ़ी से वह वैसे ही आचार-विचार की उम्मीद करती है जो शायद बदले हुए सामाजिक वातावरण में संभव नहीं होता।

19.6 कहानी की संरचना

साठोत्तर कहानी की सबसे बड़ी पहचान उसकी बदलती संवेदना है। इस युग में नयी'नयी सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों का उभार देखने में आता है। माँ, पिता, भाई, बहन से अलग होते हुए आदमी की ओर ज्ञानरंजन ने जितना ध्यान दिया है, जितना रेशा-रेशा अलग करके उसे उन्होंने समझा है, उतना किसी और कहानीकार ने नहीं। इस अलग होते हुए आदमी को ज्ञानरंजन अजूबा नहीं मानते। यह भी कि यह आदमी ही अपने बाप, माँ, भाई

से अलग नहीं होता बल्कि उसके बाप, माँ, भाई भी उससे अलग होते हैं। उनकी कहानी में अलगाव का यह क्रम भी महत्वपूर्ण है। यह उनको कई अन्य मुद्राधारी कहानीकारों की जमात से अलग करता है।

सातवें दशक की कहानी के संदर्भ में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' पर ज्यादा विचार किया गया है। व्यक्तिगत अनुभवों के बिना कभी कोई समर्थ और मूल्यवान साहित्य नहीं रचा गया। अनुभव के तात्कालिक आवेश को अनुभूति में पर्यवसित कर लेने की प्रक्रिया रचना की शक्ति और सामर्थ्य के लिहाज से उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी है। प्रामाणिक अनुभूति का आग्रह सातवें दशक की कहानी के लिए महज एक नारा नहीं है, वह उसकी संपूर्ण अंतर्दृष्टि है। किसी भी रूप में अतिशय आत्मकेंद्रित हो जाना या फिर अपनी ही निर्मित सीमाओं में कैद होकर समाज और परिवेश से कट जाने का आग्रह स्वयं ही अपनी रचना के प्रभाव को कम कर देने का कारण भी हो सकता है। 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का मुहावरा ज्ञानरंजन के संदर्भ में भी लागू होता है। उनके यहाँ अपने रचना-संसार को सीमित कर लेने की कोई विवशता नहीं दिखायी देती। दृष्टि का खुलापन उनकी रचनाओं को अधिक प्रभावशाली बनाता है। दरअसल, प्रामाणिक अनुभूति का आग्रह ही उस विवेक को जन्म देता है, जहाँ रचनाकार पारंपरिक मूल्यों और वर्जनाओं का विरोध करने की दृष्टि पाता है। उदाहरण के लिए 'पिता' कहानी के इस अंश को उद्धृत कर सकते हैं

'शुरू में दादा भाई ने सोचा, पिता उसके द्वारा शावर लगवाने से बहुत खुश होंगे और उन्हें नयी चीज का उत्साह होगा। पिता ने जब कोई उत्साह प्रकट न किया, तो दादा भाई मन ही मन काफी निराश हो गए। एक दो बार उन्होंने हिम्मत करके कहा भी, ' आप अंदर आराम से क्यों नहीं नहाते?' तब भी पिता आसानी से उसे टाल गए।'

समकालीन सामाजिक संदर्भ में उपर्युक्त तथ्य की सच्चाई को झुठलाया नहीं जा सकता। यहाँ पुराने मूल्यों एवं आदर्शों का विरोध करने का भावबोध ही अनुभूति की प्रामाणिकता को इंगित करता है। यहाँ पुरानी और नयी पीढ़ी का वैचारिक टकराव और परम्परा के प्रति नये का विद्रोह कहानी की शक्ति को और ज्यादा बढ़ाते हैं।

सातवें दशक की कहानी के संदर्भ में यह कहा जाता है कि वह अनावश्यक रूप से दुरुहता के प्रति आग्रहशील मालूम पड़ती है। अत्यधित तेजी से घटित होने वाले सामाजिक संक्रमण को जब नया लेखक अपनी रचना का आधार बनाता है तो स्थितियों व संबंधों के परिवर्तन, मूल्यों के ध्वंस और नैतिक प्रतिमानों के विघटन को वह जिस रूप में व्यक्त करना चाहता है, उसके लिए उसे अनिवार्य रूप से नए प्रतीक भी ढूँढ़ने पड़ते हैं। सार्थक अनुभव-बिंदों और प्रतीकों की यह तलाश आज के रचनाकार के लिए धैर्य और सामर्थ्य दोनों की माँग करता है। ज्ञानरंजन के यहाँ दुरुहता के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाई देता। सहज ढंग से परिचित बिंदों व प्रतीकों के माध्यम से भावों को अभिव्यक्त करने में ज्ञानरंजन सिद्धहस्त हैं। 'पिता' कहानी का एक अंश देखिए जहाँ लेखक पिता के अड़ियल स्वभाव के लिए भीमकाय दरवाजे का प्रतीक चुनता है

'उसे लगा पिता एक बुलंद भीमकाय दरवाजे की तरह खड़े हैं, जिससे टकरा-टकराकर हम सब निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं।'

तब यह स्पष्ट हो जाता है कि कहानी का उद्देश्य कहानी कहना नहीं, बल्कि बदले हुए यथार्थ और संबंधों को संप्रेक्षित करना है। इसलिए उसमें चरित्र की अपेक्षा स्थितियाँ ही प्रमुख और महत्वपूर्ण हैं। भाषा के स्तर पर इस पूरे दशक की कहानी साहित्य और जीवन की भाषा के अंतर को मिटाती हुई सी मालूम देती है। अपने साहित्य में यह पीढ़ी उसी भाषा का प्रयोग करने की वकालत करती है जो सामान्य रूप से रोजमर्रा के प्रयोग की भाषा है। लेकिन इसके साथ ही यह कहना भी गलत न होगा कि भाषा के स्तर पर जितनी असावधानी और अनुशासनहीनता इस पीढ़ी के रचनाकारों में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं।

'शायद पसीने से भीगी टाँग पत्नी के बदन में छू गई थी। मुँह में बुरा-सा स्वाद भर आया था। किसी बुरी बीमारी के कारण अक्सर ऐसा हो जाया करता है। उठकर उसने दो-तीन कुल्ले किए और ढेर सारा ठंडा पानी पिया। इतना सब कुछ वह अधनींद में ही करता रहा।'

'पिता ने अपना बिस्तरा गोल मोड़कर खाट के एक सिरे पर कर लिया है और वही सुराही से प्याले में पानी ले-लेकर अपनी खटिया की बाध तर कर रहे हैं। सुराही से खाट तक और खाट से सुराही तक बार-बार आते-जाते हैं। बहुत बार ऐसा करने पर खाट का बाध तर हुआ है। इसके बाद उन्होंने पानी पिया और पुनः एक बड़ी आवाजदार जम्हाई के साथ लिपटे हुए बिस्तरे का सिरहाना बना निखरी खटिया पर लेट गए।'

इस तरह ज्ञानरंजन एक ऐसे वातावरण का निर्माण करते हैं जिसमें चरित्रों की मनः स्थिति , अपने आप उभरकर सामने आ जाती है, बिना किसी घटनात्मकता के। और लेखक अपने उद्देश्य को सम्प्रेषित करने में सफल हो जाता है।

'पिता' में संबंधों की हास्यास्पदता को उजागर करने की कोशिश नहीं हुई है। पिता का चरित्र स्थितियों की तमाम हास्यास्पदता के बावजूद हास्यास्पद और उपेक्षित नहीं हुआ है। वह बहुत सटीक लगता है। दरअसल इस कहानी में पिता-पुत्र के रिश्ते टूटने की हद तक दिखाई देते हुए भी जुड़े हुए हैं। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए उपेन्द्र नाथ अश्क ने लिखा है कि, ''बेटे के मन में अपने पिता के तमाम किरदार को नकारने के बावजूद उसके प्रबल हठ के प्रति एक अव्यक्त आदर है। वह परायेपन के एहसास के बावजूद पिता से जुड़ा रहना चाहता है। बेटा कहीं यह हठ और जिद अपने अंदर भी महसूस करता है। अपने आपको पिता से 'एलियनेट' करने के चेतन प्रयास के बावजूद वह अपने उस जिद्दी, हठी, पुराने मूल्यों में दृढ़ विश्वास रखने वाले पिता से जुड़ा हुआ है।''

पिता के प्रति अव्यक्त आदर के कारण ज्ञानरंजन की शब्दावली के तमाम फूहड़, कुरुचिपूर्ण वीभत्स, अश्लील और व्यंग्यपूर्ण प्रयोग पिता के संदर्भ में मानो खो गए हैं। यह कहानी अगर बार-बार पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है तो उसका कारण है बेटों के मन में ऐसे हठी पिता के प्रति उलाहना, आश्चर्य अथवा अव्यक्त श्रद्धा का भाव - ''पिता तुम हमारा निषेध करते हो, तुम ढोंगी हो, वज्र अहंकारी।'' इन शब्दों में, जिसे बेटा चिल्लाकर कहना चाहता है पर वह कह नहीं पाता, क्रोध नहीं उपालम्भ है कि काश वे हमें समझने की कोशिश करते। 'पिता' कहानी के पिता पुराने मूल्यों के प्रति हठवादिता के बावजूद अमिट छाप छोड़ जाते हैं। 'पिता' टूटते हुए संबंधों की कहानी नहीं है हालाँकि इसमें अलगावबोध की गहन पीड़ा है। यहाँ खास बात यह देखने को मिलती है कि युवा पीढ़ी पिता से नहीं कटती बल्कि पिता ही जाने-अनजाने समूचे परिवार से अपने को काट लेते हैं। परिवार उनसे जुड़ना चाहता है पर वे अलग, निरपेक्ष बने रहना चाहते हैं।

''बड़े-बूढ़े लोग जैसे बहू-बेटियों के निजी जीवन को स्वच्छंद रहने देने के लिए अपना अधिकांश समय बाहर व्यतीत किया करते हैं, क्या पिता ने वैसा ही तो करना नहीं शुरु कर दिया है?''

कहानी पढ़कर तो ऐसा ही लगता है कि पिता परम्परा से चली आ रही भूमिका में उतर आए हैं। वे अपने बेटों को नयेपन से नहीं काटते हैं, न ही आधुनिक उपादानों के उपयोग करने से मना करते है बल्कि स्वयं को शायद इनके उपयुक्त न समझकर इनसे अलग-थलग हो लेते हैं। यह कहानी पुराने और नए मूल्यों के टकराव की कहानी हे। ''पिता के मूल्य न सिर्फ पुराने हैं बल्कि उन्हें उनका मान है और उनमें प्रबल आस्था और उनका गर्व भी है, बेटों के नए मूल्य चूँकि अभी पूरी तरह बने नहीं, इसलिए जब पिता और बेटों में टकराव होता है, तो पिता पुराने और एक दिन मिट जाने वाले मूल्यों से चिपटे रहने के बावजूद इक्कीस पड़ते हैं।'' (उपेन्द्रनाथ अश्क - कथाकार ज्ञानरंजन का रचना-संसार)

पुरानी पीढ़ी के निम्न मध्यवर्गीय समाज में ऐसे आदर्शवादी- सिद्धांतवादी पिता अब भी मिल जाएँगे। ज्ञानरंजन ने पिता का बहुत ही यथार्थ चित्र खींचा है जिससे उसका समूचा व्यक्ति अत्यंत प्रामाणिक प्रतीत होता है। इसके लिए ज्ञानरंजन को अकहानी आंदोलन की सीमा से स्वयं को दूर रखना पड़ा है। कहानी जहाँ संबंधों या व्यक्तियों की व्यर्थता का बोध कराती है वहीं ज्ञान की यह कहानी पिता-पुत्र के रिश्तों में आए तमाम तनावों के बावजूद आस्था का संचार करती है और यह हमारे सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह कहानी पिता-पुत्र ही नहीं समूचे मानवीय संबंधों के प्रति आस्था जगाती है और उदारता का संदेश देती है।

19.7 सारांश

'पिता' में पारिवारिक संबंधों के एक नये आयाम को उद्घाटित करने का प्रयास दिखायी देता है। यहाँ पिता अपनी रुढ़ियों व संस्कारों से चिपके हुए हैं। वे आवश्यक सुविधाओं को भी फालतू खर्च में शुमार करते हैं। परिवार के बार-बार आग्रह करने पर भी वे घर में मौजूद सुविधाओं का उपयोग नहीं करते जबकि परिवार उनको खुश रखने के लिए सभी सुविधाएँ देने की कोशिश करता है लेकिन पिता इन सबसे तटस्थ और असम्पृक्त रहते हैं। ध्यान देने की बात है कि यहाँ पिता को अकेलापन या असुविधा परिवार की असम्पृक्त या उपेक्षा के कारण नहीं झेलनी पड़ती बल्कि पिता खुद तटस्थता और अन्यमनस्कता का चुनाव करते हैं। चीजों के प्रति और घर के लोगों के प्रति। परिवार उन्हें अकेला छोड़कर नहीं जाता बल्कि वे ही परिवार के साथ रहते हुए भी साथ नहीं रहते।

आज जब संयुक्त परिवार के लगातार टूटते जाने से बूढ़ों की स्थिति काफी दयनीय हो गई है, उन्हें प्रायः जीवन के अंतिम दिन अकेलेपन में बिताने पड़ रहे हैं। 'पिता' कहानी में पिता समूचे परिवार के साथ रहते हुए अपनी जिद के कारण अलग-थलग पड़ जाते हैं। दो पीढ़ियों में यह संघर्ष कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में अवश्य दिखाई देता है। यह हमारे समय और समाज का सत्य है इसलिए कोई भी लेखक इससे आँखे मूँदे नहीं रह सकता। बूढ़ों का रूढ़ संस्कार परिवार के साथ घुलने-मिलने नहीं देता। 'पिता' कहानी में पिता का अपना अलग संसार बन गया है। उसमें वे किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं सहन करते। वे समूचे परिवार पर पत्थर की चट्टान की तरह भारी पड़ जाते हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम उनसे नहीं करवाया जा सकता। सत्य-असत्य का निर्धारण वे अपनी कसौटियों पर करते हैं। नयी पीढ़ी इसे मानने के लिए तैयार नहीं है। अपना रास्ता वह खुद चुनती है जबकि पहले पिताओं द्वारा दिखाये गए मार्ग का अनुसरण करना एक आदर्श माना जाता था। नयी पीढ़ी ने आदर्श के इस लबादे को उतार फेंक दिया है। तब ऐसे में दो पीढ़ियों के संबंधों में बदलाव आना लाजमी है। ज्ञानरंजन इन बदलते हुए संबंधों के कुशल चितेरे हैं। उनके यहाँ राजनीति हावी नहीं है बल्कि मानवीय-पारिवारिक संबंधों के रेखांकन में ही उन्होंने ज्यादा दिलचस्पी दिखाई है। ऐसा करना परिस्थिति की माँग भी कही जा सकती है। ज्ञानरंजन के ही शब्दों में, ''नई कहानी ने पंगु जीवन को अपने कंधों पर उठाया है। वह अपने रचना-भोग से पलायन करके केवल तटस्थ नहीं रहना चाहती, वरन् वह जीवन-चक्र की आदि से अन्त तक होने वाली यात्रा में एक स्वस्थ चेतना की तरह उपस्थित है। मैं समझता हूँ कि नए कहानीकारों ने कहानी की इस आधुनिक स्थिति को तीक्ष्णता से महसूस करना शुरु कर दिया है।''(नई कहानियाँ - दिसम्बर 1964)

इस तरह ज्ञानरंजन अपनी रचना के प्रति बहुत सजग दिखाई देते हैं। रचना को वे 'कमिटमेंट' मानते हैं। इसी अर्थ में नया लेखक प्रतिबद्ध दिखाई देता है जहाँ वह रचना के प्रति अपना सरोकार व्यक्त करता है न कि किसी विचारधारा या घोषणा-पत्र के प्रति। ज्ञानरंजन कहते हैं कि, 'आज का नया कहानीकार तेजी से प्रतिबद्ध होता जा रहा है, जो प्रतिबद्ध नहीं है, उसकी घुसपैठ का खोटा सिक्का साहित्य में अब आगे चलने से रहा।'(वही) आज जब समाज में चौतरफा मूल्यों का ह्रास होता दिखाई दे रहा है, एक तरह की धुंध छायी हुई है, मनुष्य पराजय बोध से ग्रस्त होता जा रहा है, तब ऐसे में एक लेखक को इस पराजय बोध को स्वीकार कर

उससे संघर्ष करने की चेतना ही हमारे समय की प्रतिबद्धता को सुनिश्चित करती है। इसी से निर्माण के प्रति रचनाकार की छटपटाहट का संकेत मिलता है। 'पिता' कहानी में संबंधों की पहचान, उसकी चीरफाड़ और गहराई में पहुँचने वाली अंतदृष्टि ही ज्ञानरंजन की प्रतिबद्धता और ईमानदारी का साक्ष्य प्रस्तुत करती है। भाषा की सहजता ज्ञानरंजन की कहानियों को बोधगम्य बनाती है और यही उन्हें दूसरे लेखकों से अलग पहचान भी देती है।

कठिन शब्दों के अर्थ

वैनिटी	दिखावा
टिप	बख्शीश, इनाम
बेयरा	होटल का नौकर

19.8 प्रश्न

1. साठोत्तरी कहानी के विकास में ज्ञानरंजन के योगदान की समीक्षा कीजिए।
2. पारिवारिक संबंधें के बदलते स्वरूप को 'पिता' कहानी के माध्यम से स्पष्ट कीजिए
3. 'पिता' कहानी में सामाजिक यथार्थ का चित्रण किस रूप में हुआ है? स्पष्ट कीजिए
4. कहानी की संरचनागत विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।

उपयोगी पुस्तकें

1. नयी कहानी : संदर्भ प्रकृति - देवीशंकर अवस्थी
2. समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि - डॉ. धनंजय
3. बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध : हिंदी कहानी - नरेन्द्र मोहन
4. कथाकर ज्ञानरंजन का रचना संसार - सं. सत्यप्रकाश मिश्र
5. नई कहानी : पुनर्विचार - मधुरेश

इकाई 20 तिरिछ

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 कहानी का आशय
20.3 कहानी में अभिव्यक्त यथार्थ की प्रासंगिकता
20.4 शहरी आधुनिकता में लुप्त होती मानवीय संवेदना
20.5 'तिरिछ' और 'पिता' कहानी के पिता की तुलना
20.6 सारांश
20.7 प्रश्न
उपयोगी पुस्तकें

20.0 उद्देश्य

उदय प्रकाश नवें दशक के सर्वाधिक चर्चित कहानीकारों में से एक हैं। 'तिरिछ' कहानी समकालीन कहानी की चर्चा का केंद्र बन गई थी। आधुनिकता की दौड़ में इंसान के अमानवीय और संवेदनहीन होते जाने की यह यथार्थवादी प्रस्तुति है। कहानी में यथार्थ को जादुई यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नवें दशक में यथार्थ की पड़ताल नये सिरे से हुई। कहानी प्रक्रिया पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। जादुई यथार्थवाद की तर्ज पर लिखी गई 'तिरिछ' कहानी समकालीन यथार्थ को बहुत प्रभावकारी ढंग से सामने लाती है।

इस इकाई के अध्यय के बाद आप :

- एक लोक प्रचलित विश्वास, जिसके अनुसार 'तिरिछ' नामक जहरीले जन्तु द्वारा काटे मनुष्य की मृत्यु निश्चित है, को अपने समय के यथार्थ से कैसे जोड़ने की कोशिश की है, इसे आप समझ सकेंगे,
- आधुनिकीकरण और शहरी संस्कृति में समाज किस तरह से संवेदनहीन और अमानवीय होता जा रहा है, इसे उद्घाटित कर सकेंगे,
- नयी परिस्थितियाँ और नए जीवन-मूल्यों से परिचित न होने के कारण 'तिरिछ' के पिता शहर में आकर किस प्रकार आक्रांत होते है, इसे जान सकेंगे,
- 'तिरिछ' कहानी और 'पिता' कहानी में रेखांकित पिता की तुलना कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

उदय प्रकाश नवें दशक के सर्वाधिक चर्चित कहानीकारों में से एक हैं। उनका जन्म सन् 1952 में छत्तीसगढ़ अंचल के एक गाँव में हुआ था। 1981 में 'तिब्बत' कविता के लिए 'भारत भूषण अग्रवाल' पुरस्कार और 1983 में कहानी-संग्रह 'दरियाई घोड़ा' के लिए 'ओमप्रकाश सम्मान' से पुरस्कृत किया गया। उदय प्रकाश की प्रकाशित कृतियाँ हैं - 'सुनो कारीगर', ' अबूतर-कबूतर (कविता संग्रह)', ' दरियाई घोड़ा' और 'तिरिछ'। 'और अंत में प्रार्थना' एवं 'पाल गोमरा का स्कूटर' (कहानी संग्रह)। इसके अतिरिक्त 'कला अनुभव' नाम से एक अनूदित पुस्तक भी प्रकाशित है।

उदय प्रकाश की अधिकांश कहानियाँ ग्रामीण संवेदना से ओत-प्रोत हैं। 'छप्पन तोले का करधन' और 'तिरिछ' में इसकी झलक दिखायी देती है। 'तिरिछ' में एक पिता के माध्यम से लेखक पुरानी पीढ़ी के संस्कारों व विश्वासों को बारीकी से समझने का प्रयास करता है। इसमें वर्णित

'पिता' को घर लौटते समय रास्ते में तिरिछ काट देता है, जिसके बारे में लोक प्रचलित धारणा है कि तिरिछ का काटा आदमी बच नहीं सकता। क्योंकि तिरिछ न केवल जहरीला जन्तु होता है बल्कि काटने के बाद वह पेशाब करके लोट जाता है जिसका मतलब होता है कि काटे हुए आदमी की मृत्यु निश्चित है। पिता को शहर से बहुत डर लगता है। भरसक वे जाने से कतराते हैं। किंतु घर नीलाम हो जाने की चिंता उन्हें शहर जाने के लिए विवश कर देती है ताकि समय पर पहुँचकर वे अदालती औपचारिकताओं को समय से निपटा सकें। पिता अभी शहर पहुँचे, इसके पहले रास्ते में ही उनकी त्रासदी के बीज पड़ जाते हैं। तिरिछ के ज़हर से उनको बचाने के लिए गाँव के ही एक पंडित जी, जिन्हें आयुर्वेद में दखल रखने का भ्रम है, उन्हें धतूरे का बीज पीसकर पिला देते हैं और शहर पहुँचते-पहुँचते वह अपना असर दिखाने लगता है। पिता को प्यास लगती है किंतु विडम्बना यह है कि अपने संकोची स्वभाव और शहरी रीति-नीति से अपरिचित होने के कारण वे कहीं पानी माँगकर नहीं पी पाते। धतूरे के काढ़े का पूरा असर हो जाने के बाद वे अपनी चेतना खो बैठते हैं और लोग उन्हें पागल समझकर, अनेक आरोप लगाकर पीट-पीटकर मार डालते हैं।

कहानी को सरसरी तौर पर पढ़ने से लगता है कि पिता की मृत्यु तिरिछ के काटने से हुई है। एक सामान्य पाठक कहानी की सतह पर तैरते यथार्थ को ही ग्रहण कर पाता है और उसी से कथा रस का आनंद लेता है। कथा का एक स्तर यह भी हो सकता है जहाँ पिता को तिरिछ के ज़हर से बचाने के लिए धतूरे का बीज पिलाया जाता है। हालाँकि तिरिछ का काटना और धतूरा दोनों ही प्राणघातक हैं। किंतु यहाँ, इस कहानी में लेखक का उद्देश्य शहर की संवेदनहीनता और संकुचित दृष्टि को दिखाना है। यह कहानी का अंतिम स्तर है जहाँ पाठक की दृष्टि आसानी से नहीं पहुँच पाती। इसके लिए सूक्ष्म पर्यवेक्षण की आवश्यकता है। लेखक अपने इस उद्देश्य को अभिव्यक्त करने के लिए प्रचलित धारणा और विश्वास का सहारा लेता है। वह चाहता तो सीधे-सीधे शहर की अमानवीयता को चित्रित कर सकता था। किंतु, तब शायद कहानी में वह प्रभावान्विति नहीं आ पाती, जो एक प्रतीक के माध्यम से उसने कर दिखाया है।

उसने एक प्रचलित विश्वास, जिसके अनुसार तिरिछ द्वारा काटे मनुष्य की मृत्यु अवश्यंभावी है, को अपने समय के यथार्थ से जोड़कर देखने की कोशिश की है। कहानी में यह भाव निहित है कि शहर की अमानवीयता तिरिछ से ज्यादा भयंकर और प्राणघातक है। इसीलिए उसने एक ऐसे पिता के चरित्र का निर्माण किया है जो संकोची, सरल और शहर से अनासक्त रहते हैं। शहर और गाँव हमारे वृहत्तर समाज का ही हिस्सा हैं। यहीं आधुनिक सभ्यता के समस्त उपादान और शासन-प्रशासन की इकाइयाँ अपनी स्थिति को प्राप्त करती हैं। विकास की संभावनाओं के इसी द्वार पर बहुत-सी विकृतियाँ भी डेरा डाले हुए मिलती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विकास के साथ ही विकृतियों का प्रादुर्भाव होता है और वे इस तरह विकास की स्वस्थ परंपरा में अवरोधक बन कर उपस्थित होती हैं। आधुनिक युग ने अगर हमें वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न किया तो उपहार में संवेदनहीनता और अमानवीयता जैसे विकृत मूल्य भी दिये। ये मानव-जीवन के लिए कितनी खतरनाक हैं, इसी तथ्य को उजागर करने के लिए 'तिरिछ' कहानी की रचना हुई है।

20.2 कहानी का आशय

'तिरिछ' कहानी में लेखक का उद्देश्य शहरी समाज की संवेदनहीनता और अमानवीयता का उद्‌घाटन करना है। आज जब हमारे मानवीय संबंधों की परिधि लगातार सीमित होती जा रही है तब ऐसे में लोगों की सोच में भी एक तरह का संकोच विकसित होना स्वाभाविक है। शहरी जीवन की आपाधापी में तो दूसरों के दुख-दर्द, हैरानी-परेशानी की तरफ नजर उठाकर देखने से लगता है किसी को फुर्सत ही नहीं है। मनुष्य आत्म केंद्रित हो गया है। ऐसी स्थिति में अपने परिवेश से वह अलग-थलग सा पड़ गया है। उसके आस-पास के जीवन में क्या कुछ घटित हो रहा है या तो वह उससे अनभिज्ञ रहता है अथवा तटस्थ। उस घटना में वह किसी तरह के

हस्तक्षेप या संलग्नता से स्वयं को बचाने की कोशिश करता है। इस तरह की प्रवृत्तियाँ आधुनिकता के केंद्र बने शहरों में बहुत पायी जाती है। ये प्रवृत्तियाँ संवेदना के ह्रास का लक्षण प्रतीत होती हैं। संवेदना का व्यापक या सार्वजनिक स्तर और मानवीय सरोकार जेसे-जैसे क्षीण होते जा रहे हैं हमारा परिवेश एक तरह के अजनबीपन और संज्ञा शून्यता का शिकार होता जा रहा है। उदय प्रकाश ने 'तिरिछ' में एक लोक-प्रचलित विश्वास के माध्यम से शहर के इसी संवेदनहीन परिवेश को उभारना चाहा है। लोक प्रचलित धारणा के अनुसार तिरिछ एक अत्यंत विषैला जंतु होता है जिसके काटने से मनुष्य की मृत्यु अवश्यंभावी है।

कहानी में लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि तिरिछ का काटा मनुष्य बच भी जाए किंतु शहर की संवेदनहीनता से वह नहीं बच सकता। वह तिरिछ के जहर से ज्यादा खतरनाक या कहें जानलेवा होता है। गाँव के सीधे-सादे व्यक्ति के लिए शहर एक अबूझ पहेली जेसा है या कि भूलभुलैया, जिससे निकलना ऐसे व्यक्ति के लिए बहुत कठिन होता है। 'तिरिछ' में 'पिता' को शहर इतना आतंकित करता है कि वे शहर जाने से बार-बार कतराते हैं, न जाने के बहाने ढूँढ़ते हैं। जैसे तिरिछ के जहर की व्याप्ति पूरे शरीर में होती है और व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो जाता है उसी तरह शहर आधुनिकता के विभिन्न उपकरणों के माध्यम से अपने आप तक सीमित न रहकर संपूर्ण व्यक्ति की ओर बढ़ रहा है। इस कहानी के माध्यम से लेखक परम्परा और आधुनिकता, पुराने और नए मूल्य-बोध को चित्रित करना चाहता है। लोक प्रचलित विश्वास से लिया गया तिरिछ का प्रतीक कितना प्रासंगिक है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आधुनिकीकरण और नगरीकरण ने पुराने जीवन-मूल्यों को ग्रस लिया है, वे मूल्य जो नितांत मानवीय प्रकृति थे, हमारे जीवन के लिए मूल्यवान, सारगर्भित और अनिवार्य थे। इनके स्थान पर अनेक विकृतियाँ व्याप्त हो गई हैं जिनसे समूचा मानवीय अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। यह तिरिछ के जहर की भांति समाज में फैल रहा है। जिसका परिणाम निश्चित रूप से भयंकर होगा। 'तिरिछ' कहानी में इसे प्रतीकात्मक ढंग से दिखाने की कोशिश की गई है। तिरिछ कहानी का पिता दूषित शहरी वातावरण में अदालतों, विभिन्न कार्यालयों, बैंकों आदि के अनेक चक्कर लगाते हुए अत्यन्त सांकेतिक ढंग से सामाजिक विकृतियों और विडम्बनाओं का उद्घाटन करता है। अतः कहानी अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल मानी जा सकती है।

20.3 कहानी में अभिव्यक्त यथार्थ की प्रासंगिकता

हिंदी में जादुई यथार्थवाद पर बहस की शुरूआत संभवतः पंकज बिष्ट के कहानी संग्रह 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' पर चंचल चौहान द्वारा लिखी गई समीक्षा से होती है। दरअसल, जादुई यथार्थवाद की अवधारणा यथार्थवाद की प्रचलित कोटियों आलोचनात्मक यथार्थवाद एवं समाजवादी यथार्थवाद से अलग एक नयी किस्म की अवधारणा के रूप में सामने आयी है। इस नयी अवधारणा के विषय में लोगों की जिज्ञासा स्वाभाविक थी। आठवें दशक में 'समाजवादी यथार्थवादी' पद्धति और विश्व दृष्टि कथा साहित्य की चर्चा में प्रमुखता हासिल करने लगी थी। मजदूर-किसान से जुड़ने और इसीलिए प्रेमचंद की परंपरा से जुड़ने का सवाल इसी दौर में एक बार फिर जोर पकड़ने लगा था। लेकिन इस जुड़ने की प्रक्रिया में जो चीज कथाकारों के हाथ से छूट रही थी, वह था अपने समय और समाज का यथार्थ। समाज की सतह पर रोजमर्रा की समस्याओं को लेकर उठने वाले जनांदोलनों को देखकर लेखक को लगा कि जनता क्रांति के मुहाने पर खड़ी है। यह रचनाकारों का मनोगत या गढ़ा हुआ यथार्थ था, वस्तु सत्य नहीं। इसी मनोगत यथार्थ को अतिरंजित करके पेश किया जा रहा था और कहानियाँ लिखी जा रही थीं। इन कहानियों से एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया कि कथा लेखन मनोग्रंथियों की दुनिया से निकलकर समाज सापेक्ष बनने की कोशिश में जुट गया। यह एक सकारात्मक बदलाव था लेकिन इन लेखकों ने समाज के विकास और उसकी स्थिति, उसकी जटिलताओं और विद्रूपताओं की गंभीर पड़ताल में गए बिना, उन्हें पहचाने बिना सतही वास्तविकता को चित्रित करने में ज्यादा रूचि दिखायी। समाज के यथार्थ को ठीक से समझ न पाने का यह परिणाम था। आपातकाल ने लेखकों को यथार्थ की जमीन पर पटक दिया। अब उन्हें महसूस हुआ कि जनता किसी क्रांति के लिए तैयार नहीं बैठी थी क्योंकि उसने कोई देशव्यापी प्रतिरोध या

आंदोलन नहीं किया। जिन लेखकों ने यथार्थ को सही परिप्रेक्ष्य में फिर से जाँचने-परखने की कोशिश की, उनके रचना-विकास में बदलाव के चिह्न दिखायी देते हैं। नवाँ दशक इस लिहाज से काफी महत्वपूर्ण है। इस दशक में कहानी की रचना प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ा जिससे पुरानी पीढ़ी के कथाकार भी बच नहीं सके।

जादुई यथार्थवाद एक पद्धति भी है और शिल्प का नया प्रयोग भी। मिथकों, विश्वासों, धारणाओं और मान्यताओं का सहारा लेकर एक रचनाकार यथार्थ को प्रभावी बनाने का प्रयत्न करता है। आज के जटिल यथार्थ को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने के लिए जादुई यथार्थवाद का प्रयोग किया गया है। इसमें लेखक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह जिस परिवेश को चित्रित करना चाहता है उसकी गहरी जानकारी होनी चाहिए। जादुई यथार्थवाद से प्रभावित रचनाओं में यथार्थ छिपा हुआ होता है। जब 'अद्‌भुत' या 'जादुई' तत्व सतह पर तैरते दिखाई देते हैं। मसलन 'तिरिछ' कहानी में लेखक का उद्देश्य शहर की संवेदनहीनता और अमानवीयता चित्रित करना भले ही हो किंतु पाठक का साक्षात्कार सबसे पहले तिरिछ और उसके दुःस्वप्न से होता है, जो एक प्रचलित ग्रामीण विश्वास है। ऐसे में उसे इस बात का आभास मिलना स्वाभाविक है कि लेखक ने इस कहानी में हमारे समाज की स्मृति में संचित या परंपरा से चली आ रही एक धारणा को ही चित्रित करने का लक्ष्य रखा हो। किंतु यह कहानी का निहितार्थ नहीं है। कहानी तिरिछ के जहर से मनुष्य की मृत्यु के चित्रण का उद्देश्य लेकर नहीं चलती। जो सतह पर दिखता है वही यथार्थ नहीं होता। 'तिरिछ' में तिरिछ के काटने से पिता की मृत्यु का चित्रण यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि तिरिछ के माध्यम से शहरी जीवन की जटिलता, अमानवीयता और संवेदनशून्यता को चित्रित करना यथार्थ को उसके सही परिप्रेक्ष्य में उजागर करना है। यह सच है कि इस कहानी में व्यक्त यथार्थ सतही नहीं है और गहन पाठ की माँग करता है। आज की कहानियाँ ज्यादा जटिल एवं अंतर्मुखी होती हैं इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि कहानी को सूक्ष्म और सक्रिय रूप से पढ़ा जाए। 'आज की कहानियाँ एकात्मक स्तर की नहीं होती। अर्थनिष्पत्ति की दृष्टि से उनके अनेक स्तर हो सकते हैं। चूँकि पाठ प्रक्रिया से अर्थ-निष्पत्ति का सीधा संबंध है इसलिए कथा के इन भिन्न स्तरों के प्रति भी हमें सचेत होना चाहिए जहाँ अर्थ निष्पन्न होता है।' (हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, सुरेन्द्र चौधरी, पृ. 125)

कहानी पाठ के संदर्भ में यदि उसका मर्म नहीं खुला तो कहानी पढ़ने का सारा प्रयत्न व्यर्थ माना जाएगा। 'कहानी का अर्थ शुद्ध कथात्मक स्तर पर भी हो सकता है या दूसरे समानान्तर स्तरों पर भी। हाँ, आज की कहानियों में सामान्यतः वह कथात्मक स्तर पर नहीं होकर अन्यत्र ही होता है।' (उपर्युक्त) प्रेमचंद की अधिकांश कहानियों का अर्थ कथात्मक स्तर पर ही विद्यमान दिखाई पड़ता है। जबकि प्रेमचंदोत्तर कहानियाँ, विशेष रूप से समकालीन कहानियाँ अर्थ-स्तर की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण हैं। एक स्तर की दृष्टि से पढ़ने पर इनका अर्थ नहीं खुलता।

मोरिस बोदीं ने स्पष्ट शब्दों में कथा के विभिन्न स्तरों की चर्चा की है। पहला कथात्मक स्तर शुद्ध रूप से कथानक का स्तर होता है। इस स्तर पर कहानीकार चरित्र और घटनाओं के अन्वय, अंतर्क्रिया और विकास द्वारा कथानक का रूप निर्मित करता है। कहानी का दूसरा स्तर भावात्मक होता है। भावात्मक स्तर से तात्पर्य बोध के स्तर से है। इस स्तर की कहानियों में छोटे-छोटे उल्लेख भी अनंत अर्थ संभावनाओं को उजागर कर देते हैं। 'कफन' कहानी में घीसू का एक वाक्य है 'तू बड़ा बेदर्द है बे, जिसके साथ साल-भर सुख चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई।' यह छोटा-सा वाक्य कहानी की मूल संवेदना को धारण करने वाला है। स्त्री के प्रति पुरुष सत्तात्मक समाज का अमानवीय रवैया यहाँ स्पष्ट होता है। वरना बिमार और दर्द से कराहती स्त्री की जानलेवा चीखों से भी पति और ससुर के दिल का न पसीजना स्वाभाविक नहीं लगता। इसमें एक समस्त जीवन-पद्धति के क्षय का संकेत है। कहानियों का अंतिम स्तर सांस्कृतिक होता है। कहानियाँ एक संपूर्ण जीवन-पद्धति का आंतरिक सत्य बन जाती हैं। यहाँ कहानी का सत्य जीवन का सत्य हो जाता है। 'कहानीकार का उद्देश्य मानवीय व्यवहार का चित्रण होता है, उस व्यवहार के पीछे संवेदनीय प्रेरणाओं को उजागर करना होता

है। अस्तु, कहानी की पाठ-प्रक्रिया में सजगता, आत्मनिर्णय की क्षमता और कला संवेदना के प्रति क्रियात्मक तत्परता की आवश्यकता होती है।'

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य कहानी की पाठ-प्रक्रिया के स्तर को समझना है। इससे हमें 'तिरिछ' कहानी के मर्म को समझने में आसानी होगी। जहाँ तक 'तिरिछ' का सवाल है, कहानीकार का उद्देश्य समाज में प्रचलित विश्वासों का चित्रण करना नहीं है बल्कि उसके माध्यम से शहरी जीवन की संवेदनहीनता को उजागर करना हे। 'तिरिछ' कहानी में ' नैरेटर' के स्वप्न में तिरिछ बार-बार आता है और उसे आक्रांत करता है। जहाँ तिरिछ को लेकर लोकमानस में कई तरह के विश्वास प्रचलित हैं। मसलन् 'एक तो यह कि जैसे ही वह आदमी को काटता है, वैसे ही वह वहाँ से भागकर किसी जगह पेशाब करला है और उस पेशाब में लोट जाता है, अगर तिरिछ ने ऐसा कर लिया तो आदमी बच नहीं सकता। अगर उसे बचना है तो तिरिछ के पेशाब में लोटने के पहले ही खुद किसी नदी, कुएँ या तालाब में डुबकी लगा लेनी चाहिए या फिर तिरिछ के ऐसा करने के पहले ही उसे मार देना चाहिए।'

'दूसरी बात यह है कि तिरिछ काटने के लिए तभी दौड़ता है,जब उससे नजर टकरा जाए। अगर तिरिछ को देखो तो उससे कभी आँख मत मिलाओ। आँख मिलते ही वह आदमी की गंध पहचान लेता है और फिर पीछे लग जाता है। फिर तो आदमी चाहे पूरी पृथ्वी का चक्कर लगा ले, तिरिछ पीछे-पीछे आता है।'

तिरिछ के संबंध में प्रचलित यह धारणा हमारे सामाजिक यथार्थ का एक अहम पहलू है। ध्यान देने की बात यह है कि जब हम विज्ञान और तकनीकि के क्षेत्र में इतना आगे बढ़ चुके हैं, फिर भी कुछ ऐसी चीजें हैं जो हमारा पीछा नहीं छोड़ती और वे समय से हमें बहुत पीछे खींच ले जाती हैं। यह समय से एक तरह का टकराव है। एक ही समय में दो भिन्न प्रकार के सत्य अपने अस्तित्व का आभास कराते हैं। एक वैज्ञानिक प्रगति और तार्किक जीवन-दृष्टि का बोध कराता है तो दूसरा जड़ीभूत मान्यताओं और अंध-विश्वासों का। इन मान्यताओं का कोई तार्किक आधार नहीं होता किंतु वे जीवन में जबर्दस्त प्रभावी भूमिका निभाती हैं। तिरिछ के विषय में एक और विश्वास का जिक्र कहानी में आता है 'बहुत से कीड़े-मकोड़े और जीव-जंतु रात में चंद्रमा की रोशनी में दुबारा जी उठते हैं, चाँदनी में जो ओस और शीत होती है उसमें अमृत होता है और कई बार ऐसा देखा गया है कि जिस साँप को मरा हुआ समझकर रात में यों ही फेंक दिया जाता है उसका शरीर चाँद की शीत में भीगकर दुबारा जी उठता है और वह भाग जाता है, फिर वह हमेशा बदला लेने की ताक में रहता है।'

20.4 शहरी आधुनिकता में लुप्त होती मानवीय संवेदना

इस तरह की मान्यताएँ अवैज्ञानिक होती हैं, जिनका कोई तार्किक आधार नहीं होता। किंतु ये हमारे सामाजिक जीवन का हिस्सा हैं और मनुष्य को बहुत गहरे तक प्रभावित करती हैं। कहानी की पाठ-प्रक्रिया के सिलसिले में इस स्तर को रेखांकित किया जा सकता है। किंतु इस कहानी के और भी कई स्तर हैं जो ज्यादा महत्वपूर्ण हैं और लेखकीय संवेदना को उजागर करते हैं। 'तिरिछ' में दो पीढ़ियों के अंतर को भी लक्षित किया जा सकता है। नयी पीढ़ी किस तरह तटस्थ और संवेदनशून्य होती जा रही है, इसे कहानी के कुछ अंशों को उद्धृत कर देखा जा सकता है

'स्टेट बैंक के कैशियर अग्निहोत्री के अनुसार वह उस समय कैश रजिस्ट्री चेक कर रहा था। गड्डीयाँ रखी हुई थी। उस वक्त ग्यारह से दो-तीन मिनट ऊपर हुए होंगे। तभी पिता जी वहाँ आए। उनके चेहरे पर धूल लगी हुई थी, चेहरा डरावना था और अचानक ही उन्होंने जोर से कुछ कहा था। अग्निहोत्री का कहना था कि मैं अचानक डर गया।'

आतंकवादी गतिविधियों और बैंक डकैतियों की घटनाओं में लगातार बढ़ोत्तरी को देखते हुए

अग्निहोत्री की घबराहट और भय स्वाभाविक हैं लेकिन कहानी में एक बूढ़ा होता हुआ बेचारा किस्म का आदमी जिस तरह से कैशियर के सामने खड़ा होता है इससे उसकी दुर्भावना का अहसास तो नहीं हो सकता, सिवाय उसकी बेचारगी पर तरस खाने के। ऐसे में उस व्यक्ति से किसी प्रकार की संवेदना न जताते हुए भय या आतंक का अहसास दिलाना सिर्फ उसकी अथवा उस मैली-कुचैली पीढ़ी की उपेक्षा या तिरस्कार ही कहा जा सकता है। 'तिरिछ' में यह भावबोध प्रबल रूप से उभरकर सामने आता है।

'पिताजी' की दाहिनी आँख के ऊपर, भौंह पर जो चोट लगी थी और जिसका खून रिस-रिस कर उनकी आँख पर आने लगा था वह चोट उनको इतवारी कालोनी में ही लगी थी क्योंकि बाद में लोगों ने बताया कि लड़के उन्हें बीच-बीच में ढेले मार रहे थे।' यह बड़े-बूढ़ों के प्रति युवा पीढ़ी की उपेक्षा, तिरस्कार, अपमान और घृणा का एक और उदाहरण है। पिता की मृत्यु अधिक रक्त स्राव से होती है। ईंट का एक बड़ा-सा टुकड़ा उनकी कनपटी पर लगता है और उनके मुँह से खून निकलने लगता है। यह युवा पीढ़ी की अराजक व हिंसक प्रवृत्ति को रेखांकित करता है। अस्सी के दशक में जयप्रकाश नारायण ने ' संपूर्ण क्रांति' का जो नारा दिया था उसके प्रवाह में आकर युवा पीढ़ी बेहद उच्छृंखल अराजक एवं मर्यादाविरोधी हो गई। इस कहानी में उस अराजक मनोवृत्ति की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। 'तहसीलदार सोनी साहब का कहना था कि मुझे उस आदमी पर बहुत तरस आया और मैंने लड़कों को डाँटा भी।'

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि 'संपूर्ण क्रांति' का आंदोलन जयप्रकाश नारायण के हाथ से निकलकर अपने उद्देश्य से भटक गया था और वह पूरी तरह से अराजक रूप ले चुका था। कहानी इसका संकेत छोड़ती है। साथ ही इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि अकहानी-अकविता आंदोलन की नकारात्मक सोच के प्रभाव को युवा पीढ़ी में देखने की कोशिश की गई हो। सातवें दशक में उभरी इस प्रवृत्ति ने मूल्यों को उसकी संपूर्णता में नकार दिया था। पिता पुराने मूल्यों व आदर्शों के वाहक हैं इसलिए कहानी में उनके अस्तित्व को नयी पीढ़ी द्वारा नकारने की कोशिश परिलक्षित होती है। पिता-पुत्र के संबंधों में जो आत्मीयता और बेचैनी होनी चाहिए उसका अभाव इस कहानी में दिखाई देता है। कहानी के एक टुकड़े से इसे समझने का प्रयास करें तो बेहतर होगा -

'मुझे यह सोचकर अजीब सी राहत मिलती है और मेरी फँसती हुई साँसें फिर से ठीक हो जाती हैं कि उस समय पिताजी को कोई दर्द महसूस नहीं होता रहा होगा। क्योंकि वे अच्छी तरह से, पूरी तार्किकता व गहराई के साथ विश्वास करने लग गए होंगे कि यह सब सपना है और जैसे ही वे जागेंगे, सब ठीक हो जाएगा।'

ध्यान देने की बात है कि वाचक (नैरेटर) पिता के त्रासद अंत का जिस तटस्थता एवं निरपेक्षता से वर्णन करता है वह पूरी तरह अविश्वसनीय लगते हुए भी हमारे सामाजिक यथार्थ से ही जुड़ा हुआ है। अराजक पीढ़ी की विद्रूप मानसिकता के संदर्भ में इसे रखकर विचार करें तो बात साफ हो जाती है। आत्मीयता एवं सहानुभूति नितांत मानवीय मूल्य हैं और हमारे संबंधों को स्वस्थ एवं सजीव बनाते हैं। पिता की ऐसी दर्दनाक मृत्यु पर पुत्र को राहत महसूस होना स्वस्थ आत्म्य संबंध को रेखांकित नहीं करता। इस आत्मीयता का यदि लोप हुआ है या उसमें कमी दिखाई देती है तो इसके कारण हमारे सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे में ही मिल जाएँगे।

'तिरिछ' में पिता की उपस्थिति एक कवच की तरह है, जिसके रहते संतान निर्द्वंद्व होकर खेलती-कूदती और गहरी नींद सोती है। यह बचपन की अनुभूति है जिसमें आत्मीयता व मानवीय संवेदना का बहुत कुछ अंश विद्यमान दिखायी देता है।

'तिरिछ की लाश चट्टान से जरा हटकर, जमीन पर, घास के ऊपर चित पड़ी हुई थी। बिल्कुल, यह वही तिरिछ था। मेरे भीतर हिंसा, उत्तेजना और खुशी की एक सनसनी दौड़ रही

थी। थानू ने और मैंने सूखे पत्ते और लकड़ियाँ इकट्ठी कीं। खूब सारी मिट्टी का तेल उसमें डाला और आग लगा दी। तिरिछ उसमें जल रहा था।'

यह आत्मीयता और सहानुभूति एवं तिरिछ के प्रति हिंसा की भावना आगे चलकर खंडित होती है। इससे मन में यह शंका उठना स्वाभाविक है कि वाचक, जो नई पीढ़ी का प्रतिनिधि है, अमानवीयता और संवेदनहीनता का शिकार तो नहीं हो गया है। 'तिरिछ' के पिता अत्यंत सरल, संकोची एवं ग्रामीण चेतना के व्यक्ति हैं।

'पिताजी के साथ एक दिक्कत यह भी थी कि गाँव या जंगल की पगडंडियाँ तो उन्हें याद रहती थीं। शहर की सड़कों को वे भूल जाते थे, शहर वे बहुत कम जाते थे। जाना ही पड़े तो अंतिम समय तक वे उसे टालते रहते थे, तब-तक, जब तक जाना बिल्कुल ही जरूरी न हो जाए।'

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरानी पीढ़ी विशेष रूप से गाँव में रहने वाली, नए जीवन-मूल्यों को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। भले ही बदली हुई स्थितियों में ये अप्रासंगिक हो गए हों। गाँव की यह पीढ़ी आधुनिकता से आक्रांत भी है। कहानी में जिस स्वप्न का जिक्र बार-बार आता है और जिसमें वाचक भयाक्रांत और बेचैन हो जाता है वह कहीं आपातकालीन आतंक का आभास देता जान पड़ता है।

'मेरा सबसे खौफनाक, यातनादायक, भयाक्रांत और बेचैनी से भरा यही सपना था। भागते-भागते मेरा पूरा शरीर थक जाता, फेफड़े फूल जाते, मैं पसीने से लथपथ होकर बेदम होने लगता और एक बहुत ही डरावनी, सुन्न कर देने वाली मृत्यु मेरे बिल्कुल करीब आने लगती।'

ऐसे ही अनुभव आपातकाल के दौरान भी भुक्तभोगी लोग सुनाया करते थे। नागरिक अधिकारों का हनन, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध जैसे तथ्य आपातकालीन यथार्थ को प्रतिबिंबित करते हैं। जनता की आवाज को दबाने की कोशिश तो आपातकाल में बड़े पैमाने पर हुई क्योंकि इससे सत्ता की कलई खुलने का डर था।

'धीरे-धीरे मैंने अनुभवों से यह जान लिया था कि आवाज ही ऐसे मौके पर मेरा सबसे बड़ा अस्त्र है जिससे मैं तिरिछ से बच सकता था।'

यहाँ कहानी में तिरिछ आतंक का पर्याय बनकर उभरा है। यह आतंक शहरी आधुनिकता एवं जीवन-दृष्टि का हो सकता है और सत्ता की निरंकुशता का भी। इस कहानी के कई पाठ किए जा सकते हैं और ये भिन्न-भिन्न पाठ अपना अलग-अलग अर्थ-संकेत छोड़ते हैं। कहानी को अच्छी तरह समझने के लिए इसकी पाठ-प्रक्रिया के स्तरों की पहचान आवश्यक है। इसी अन्वेषण में इसके यथार्थ की प्रासंगिकता निहित है। कहानी में एक तरफ आतंक और यंत्रणा से उपजी बेचैनी, तनाव और असहायता का भाव निहित है तो दूसरी ओर शहरी या कहें आधुनिक मनुष्य की संवेदनहीनता और अमानवीयता छिपी हुई है। आधुनिकता का सबसे ज्यादा प्रभाव शहरों पर पड़ा है और मूल्यों का संक्रमण यहीं सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है। परंपरा और आधुनिकता अथवा पुराने और नए द्वंद्व से जहाँ नवीन भावबोध का सृजन हुआ वहीं कुछ विकृतियों ने भी जन्म लिया। ये विकृतियाँ मूलतः और सापेक्षिक रूप से मानव विरोधी थीं। समाज की आधारभूत इकाई परिवार को ही देखें तो संयुक्त परिवार में टूटन आधुनिक जीवन स्थितियों का परिणाम या अनिवार्यता तो है किंतु इससे मानवीय संबंधों को जो आघात लगा उसकी क्षतिपूर्ति के लिए कोई विकल्प हमारे सामने मौजूद नहीं है। नयी परिस्थितियों में आत्मीय संबंधों में संकोच कहीं न कहीं हमारी संवेदनहीनता को व्यक्त करता है। संवेदना के इस क्षरण ने अजनबीपन, अकेलापन, घुटन और संत्रास जैसे भावबोध दिए। 'तिरिछ' के पिता शहर की आधुनिकता से इतने आक्रांत हैं कि वे न तो किसी से अदालत का रास्ता पूछ सकते हैं और न ही प्यास बुझाने के लिए पानी माँग सकते हैं।

'वे थोड़ा परेशान भी थे क्योंकि अदालत जाने का रास्ता उन्हें मालूम नहीं था और शहर के लोगों से पूछ-पूछकर कहीं जाने में उन्हें बहुत तकलीफ होती थी।'

x x x

'जैसा कि मुझे उनके स्वभाव के बारे में पता है, वे वहाँ कुछ देर खड़े रहे होंगे और फिर एक गिलास पानी माँगने का फैसला न कर सके होंगे। एक बार उन्होंने बताया भी था कि कुछ साल पहले गर्मियों के दिनों में जब उन्होंने किसी होटल में पानी माँगा था तो वहाँ काम करने वाले नौकर ने उन्हें गाली दी थी। पिताजी बहुत संवेदनशील थे, इसलिए उन्होंने अपनी प्यास को दबाया होगा और वे वहाँ से चल पड़े होंगे।'

एक ठेठ ग्रामीण संवेदना का व्यक्ति शहरी वातावरण में किस तरह से खुद को अजनबी, असहाय और अकेला महसूस करता है, उपर्युक्त दृष्टांत से इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि पुरानी पीढ़ी का व्यक्ति अपनी नैतिकता, आदर्श व संस्कारों के साथ नयी पीढ़ी के भावबोध को आत्मसात न कर पाते हुए स्वयं को बेचैन, अकेला और ठगा-सा महसूस करता है।

शहर की आपाधापी और उसमें पिता की स्थिति पर वाचक की प्रतिक्रिया को देखें
'वैसे मेरा अपना अंदाजा है कि इस बीच पिताजी ने कुछ लोगों से अदालत जाने का रास्ता पूछा होगा और उनके दिमाग में यह बात भी रही होगी कि वहाँ पहुँचकर वे अपने वकील एस.एन.अग्रवाल से पानी माँग लेंगे। लेकिन उनके पूछने पर या तो लोग चुप रहकर तेजी से आगे बढ़ गए होंगे या किसी ने इतनी बौखलाहट और जल्दबाजी में उन्हें कुछ बताया होगा, जो पिताजी ठीक से समझ नहीं सकें होंगे और सिर्फ अपमानित, दुखी और परेशान होकर रह गए होंगे। शहर में ऐसा होता ही है।'

कैसी विडम्बना है कि पुरानी पीढ़ी की बात को नयी पीढ़ी नहीं समझ पाती और नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी। ऐसी स्थिति में संवादहीनता तो स्वाभाविक है। पुरानी पीढ़ी का अकेलापन इसी प्रवृत्ति का परिणाम है जिसमें उसे नयी पीढ़ी की उपेक्षा, घृणा और अपमान सभी कुछ सहना पड़ता है। शहर आधुनिकता का प्रतीक है। इस तरह आधुनिकता, नयी पीढ़ी और शहर एक बिंदु पर खड़े दिखाई देते हैं। इन तीनों में बौखलाहट, जल्दबाजी, संवेदनहीनता, संकुचित दृष्टि, व्यक्तिवादिता जैसी प्रवृत्तियाँ कमोबेश अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। स्टेट बैंक के कैशियर अग्निहोत्री, पुलिस थाने का दरोगा और सिपाही और वे तमाम लड़के पिताजी के साथ लगभग एक ही जैसा व्यवहार तो करते हैं। कोई उनके दुख को सुनने-समझने का प्रयास नहीं करता, बल्कि उल्टे उन पर तरह-तरह के आरोप लगाकर पीट-पीटकर हत्या कर देते हैं। यहाँ शहरी शिक्षित मध्यवर्ग एवं बौद्धिक वर्ग की स्वार्थपरता एवं उपभोक्तावादी मूल्यों के बढ़ते प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया गया है।

'उसी कालोनी में रहने वाले एक रिटायर्ड तहसीलदार सोनी साहब और शहर के सबसे बड़े अखबार के विशेष संवाददाता और कवि सत्येन्द्र थपलियाल ने बताया कि उन्होंने पिताजी के बोलने को ठीक से सुना था और दरअसल वे गालियाँ नहीं बक रहे थे बल्कि बार-बार कह रहे थे - मैं रामस्वारथ प्रसाद, एक्स स्कूल हेडमास्टर-एंड विलेज हेड ऑफ ग्राम बकेली। कवि पत्रकार थपलियाल साहब ने दुख जाहिर किया। दरअसल उसी समय वे अमेरिकी दूतावास की किसी खास पार्टी में संगीत सुनने दिल्ली जा रहे थे इसलिए जल्दबाजी में वे चले गए।'

एक कवि स्वभाव से अत्यंत संवेदनशील प्राणी माना जाता है और पत्रकार अपनी तत्परता के लिए जाना जाता है। थपलियाल साहब में तो संयोग से दोनों ही गुण विद्यमान हैं किंतु वे न तो अपने कवि हृदय का ही परिचय देते हैं और न ही पत्रकार होने का फर्ज पूरा करते हैं।

उनके लिए इससे ज्यादा महत्वपूर्ण है संगीत सुनना और उससे भी ज्यादा महत्व रखता है अमेरिकी दूतावास।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपभोक्तावादी समाज में व्यक्ति कितना यांत्रिक हो जाता है और सत्ताप्रतिष्ठान से जुड़ने के बाद तो वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को खो देता है। उसके लिए पद, प्रतिष्ठा, पैसा ही साध्य बन जाता है और मानवीय मूल्य एवं नैतिक-सामाजिक दायित्व परदे के पीछे चले जाते हैं।

'तिरिछ' स्थिति की भयावहता, दहशत और अमानवीकृत परिवेश के बीच आदमी की असहायता की कहानी है। ' व्यक्तिगत यथार्थ से ऊपर उठकर 'तिरिछ' व्यापक और अमूर्त होती हुई अपने प्रतीक को सार्वजनीन गहरी सार्थकता देती है - बेहद कलात्मक भाषा और बारीक ट्रीटमेंट के साथ।' (राजेन्द्र यादव - हंस, सितम्बर 1987)

ध्यान देने की बात यह है कि 'तिरिछ' कहानी आरंभ में यथार्थ के धरातल पर चलती है और आगे चलकर, पिता के शहर पहुँचने के बाद स्मृतियों के सहारे दुःस्वप्न के आकाश में उड़ने लगती है। ऐसा यथार्थ को ज्यादा बड़ा परिप्रेक्ष्य देने के लिए अर्थ-छवियों के विस्तार और यथार्थ को संपूर्णता में पकड़ने के लिए किया जाता है। 'हमारी लाचारी के चलते, 'तिरिछ' अपनी सारी कलात्मक प्रभविष्णुता, बौद्धिक चुनौतियों के साथ हमें एक ऐसी अस्तित्ववादी खौफ या आतंक को समझने की दृष्टि देती है जो लगभग नियतिवादी असहायता में हमें ला छोड़ता है। क्योंकि पिता को 'मारने' वाला शहर लगभग बेचेहरा प्रेतों का हुजूम है - ठीक तिरिछ के जहर की तरह अदृश्य, तरल और सर्वव्यापी।' (राजेन्द्र यादव - हंस, सितम्बर 1987)

शहर में पिता के साथ जो भी व्यवहार होता है वह व्यक्ति विशेष का नहीं, बल्कि एक मानसिकता या विकृति का प्रतीक है जहाँ कोई किसी का हमदर्द नहीं होता, सभी अपने आप में सिमटे हुए। यहाँ दुख व्यापक नहीं है।

'वाचक' के स्वप्न में तिरिछ या हाथी बार-बार आते हैं। निस्संदेह ये आतंक और त्रास के प्रतीक हैं। कहानी में जादुई कुछ नहीं है। यह कहानी जादुई यथार्थवाद की कहानी नहीं है। लेखक परंपरा से प्राप्त लोकप्रचलित विश्वास को कहानी का आधार इसलिए बनाता है ताकि कहानी में आधुनिकता जन्य विसंगतियों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जा सके। इस कहानी में तिरिछ को एक प्रतीक या रूपक के रूप में ग्रहण किया गया है जिसके माध्यम से हमारे समय और समाज के यथार्थ को सशक्त ढंग से व्यक्त करने की कोशिश की गई है।

जहाँ तक 'तिरिछ' में जादुई यथार्थवाद के प्रयोग का प्रश्न है, कहानी में इस शिल्प का पूरी तरह व्यवहार नहीं हुआ है। कला के तीन क्षण होते हैं। एक में यथार्थ बिंब में बदलता है, दूसरे में बिंब मेटाफर के रूप में सामने आता है। तीसरे और अंतिम क्षण में मेटाफर प्रतीक और मिथक के रूप में विकसित नहीं होता। तिरिछ में यथार्थ बिंब और प्रतीक की यात्रा करके ठहर जाता है। वह मिथक में परिवर्तित नहीं होता जिससे यहाँ कोई आश्चर्य, चमत्कार या जादुई जैसा तत्व उभरकर सामने नहीं आता। उदय प्रकाश की 'टेपचू' कहानी में यथार्थ को मिथक के रूप में बदलते दिखाया गया है। कहानी में टेपचू का शरीर गोलियों से छलनी हो जाता है और जब डॉक्टर उसके शरीर से गोलियाँ निकालने का प्रयास करता है तो टेपचू उससे आहिस्ता आहिस्ता निकालने का अनुरोध करता है। यहाँ टेपचू सचमुच एक मिथकीय चरित्र बन जाता है। यह अविश्वसनीय लगना स्वाभाविक है कि जिसके शरीर में अनगिनत गोलियाँ घुसायी गई हों वह जीवित रहे। किंतु लेखक इस जादुई प्रभाव को उत्पन्न कर एक बड़े सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करना चाहता है। टेपचू सत्ता के आतंक और दमन के विरुद्ध आम जनता के अस्तित्व और जीविका की कहानी है। 'तिरिछ' में न तो तिरिछ और न ही पिता को मिथक में बदलते दिखाया गया है। इससे यहाँ वह 'जादुईपन' नहीं दिखाई देता जो टेपचू में दिखाया गया है। पाठक पिता की मृत्यु को सहज ढंगसे तिरिछ के जहर का प्रभाव मान लेगा अथवा जागरूक व

बौद्धिक हुआ तो अंधविश्वास और आधुनिक प्रभावों की परिणति के रूप में स्वीकार कर लेगा। कहानी में पिता कही भी प्रतिरोध करते नहीं दिखायी देते हैं। शायद अपनी विवशता के कारण। पिता आज के परिवेश में अप्रासंगिक हो गए हैं। या कहें कि पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी के लिए अर्थहीन और बोझ बन गई है, साथ ही महत्वहीन भी। 'तिरिछ' कहानी का वाचक अपने बचपन में जिस तरह से पिता की उपस्थिति को महसूस करता है क्या वही संवेदना उसके किशोर जीवन में भी बची रहती है? तब पिता उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति और सुरक्षा-संरक्षण के लिए जरूरी थे, प्रासंगिक और अर्थवान थे, किंतु अब वे असहाय, निरर्थक एवं बोझ से प्रतीत होते हैं। कहानी की यह व्यंजना राजनीति और समाज दोनों में समान रूप से लागू होती है।

20.5 'तिरिछ' और 'पिता' कहानी के पिता की तुलना

पीढ़ियों के अंतर और पिता-पुत्र संबंध को लेकर कई कहानियाँ लिखी गई हैं। सातवें दशक के महत्वपूर्ण कहानीकार ज्ञानरंजन की 'पिता' कहानी भी बहुत चर्चित रही है। इसमें भी दो पीढ़ियों की मानसिकता, सोच एवं प्राथमिकताओं में व्याप्त अंतराल को रेखांकित करने का प्रयास किया है। यहाँ 'तिरिछ' और 'पिता' कहानियों के पिताओं का तुलनात्मक अध्ययन करना अप्रासंगिक नहीं होगा। कुछ उद्धरण

'वे सोचते बहुत ज्यादा थे - बोलते बहुत कम। जब बोलते तो हमें राहत मिलती जैसे देर से रुकी हुई साँस निकल रही हो। साथ-साथ हमें डर भी लगता। हम बच्चों के लिए वे एक बहुत बड़ा रहस्य थे। हमें पता था कि संसार के सारे ज्ञान की तिजोरी उनके पास है। हम जानते थे कि संसार की सारी भाषाएँ वे बोल सकते हैं। दुनिया उनको जानती है और हमारी तरह ही उनसे डरती हुई उनका सम्मान करती है। हमें उनकी संतान होने का गर्व था।' ('तिरिछ')

'पिताजी एक मजबूत किला थे, उनके परकोटे पर हम सब कुछ भूलकर खेलते थे दोड़ते थे और रात में खूब गहरी नींद मुझे आती थी।' ('तिरिछ')

'उसे लगा पिता एक बुलंद भीमकाय दरवाजे की तरह खड़े हैं जिससे टकरा-टकराकर हम सब निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं।' (पिता)

''पिता अद्‌भुत और विचित्र हैं।' (पिता)

'तिरिछ' के पिता अन्तर्मुखी और ग्रामीण संवेदना के व्यक्ति हैं जबकि 'पिता' कहानी के पिता शहरी मध्यवर्गीय समाज से संबंध रखते हैं। 'तिरिछ' के पिता की मितभाषिता व गंभीरता उन्हें एक रहस्यपुरुष की छवि प्रदान करती है। उनकी संतान कम से कम उन्हें इसी रूप में देखती है। पिता शहर से आतंकित हैं। भरसक वे शहर जाने से कतराते हैं। अपनी सहजता, गंभीरता और गँवईपन के बावजूद बच्चों के लिए वे अभयारण्य हैं। आधुनिकता के उपकरण सहज जीवन बोध पर किस तरह हावी हो गए हैं, 'तिरिछ' कहानी में इसे लक्षित किया जा सकता है। 'पिता' कहानी के पिता इतने सहज नहीं है। वे आधुनिकता व शहर के रीतिरिवाजों से परिचित हैं। शहर उन्हें आतंकित नहीं करता। वे इसके अभ्यस्त हैं। किंतु शहरी होने के बावजूद वे अपने परंपरागत जीवन-मूल्यों से ही चिपके हुए हैं। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक पीढ़ी के अपने-अपने जीवन-मूल्य होते हैं और वह उसी में अपनी सार्थकता तलाश करती है। ज्ञानरंजन की 'पिता' कहानी के पिता अपनी मान्यताओं पर दृढ़ हैं और वे संक्रमित व निर्माणाधीन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली नयी पीढ़ी का उपहास भी करते हैं, उनकी नसीहतों को नजरअंदाज कर देते हैं। संतान उनके सामने लाचार-सी दिखाई देती हैं। 'तिरिछ' के पिता अपने स्वभाव के अनुरूप स्वयं ही लाचार और दयनीय बन जाते हैं। आज की जटिल जीवन-स्थितियों में सहजता कितनी खतरनाक हो सकती है, 'तिरिछ' के अध्ययन से इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। अस्तित्व की रक्षा के लिए दृढ़ता आवश्यक है। 'पिता' में

इसके स्पष्ट संकेत विद्यमान हैं। 'तिरिछ' के पिता की सहजता उन्हें किसी तरह के प्रतिरोध से रोकती है। उन्हें जब धतूरे का काढ़ा दिया जाता है तो वे उसे सहज स्वीकार कर लेते हैं। शायद यह जानते हुए भी कि धतूरा घातक नशीला पदार्थ होता है। 'तिरिछ' कहानी का पिता एक प्रतीकात्मक भूमिका अदा करता है। सामाजिक विश्लेषण के संदर्भ में, जब कि 'पिता' कहानी का पिता सामाजिक, पारिवारिक जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसलिए वह नयी पुरानी पीढ़ी के दृष्टि संबंधी अंतर को भी सीधे रेखांकित करता है। यह सही है कि ज्ञानरंजन पुरानी पीढ़ी के प्रति आक्रोश की भावना न रखकर पूरी सहानुभूति का परिचय देते हैं। साथ ही वे नयी पीढ़ी की आत्मकेंद्रिता और व्यक्तिवादिता पर भी आघात करते हैं। 'तिरिछ' कहानी के पिता इस प्रकार की किसी भूमिका का निर्वाह नहीं करते। वे कहानीकार के हाथ में एक अवजार के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसके माध्यम से वह न्याय व्यवस्था, प्रशासन व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था में व्याप्त अमानवीयता को उद्‌घाटित करता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन दोनों कहानियों में वर्णित पिता पुरानी पीढ़ी और उसके जीवन-मूल्यों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। किंतु 'पिता' के पिता आधुनिक जीवन मूल्यों से आक्रांत नहीं है। वे उसका तिरस्कार करते हैं, लापरवाही की हद तक। वे दृढ़ और आक्रामक भी हैं। 'तिरिछ' के पिता नयी परिस्थितियों और जीवन-मूल्यों से परिचित नहीं लगते अतः वे इससे आक्रांत होते हैं। वे मितभाषी व गंभीर तो हैं पर दृढ़ नहीं हैं। उनके स्वभाव में आक्रामकता नहीं है। शहर में उनके साथ जो कुछ भी अमानवीय व्यवहार होता है इससे उनकी दयनीयता ही प्रकट होती है।

'तिरिछ' और 'पिता' के अध्ययन से यह बात उभरकर सामने आती है कि एक ही पीढ़ी के किंतु दो भिन्न परिवेश से संबद्ध व्यक्तियों के संस्कार, व्यवहार व सोच में व्यापक अंतर होता है। इससे गाँव और शहर की संवेदना और जीवन-यथार्थ के अंतर को भी समझा जा सकता है।

20.6 सारांश

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जादुई यथार्थवाद है क्या? और 'तिरिछ' में इसका व्यवहार हुआ अथवा नहीं। जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि वास्तविकता को क्षति पहुँचाए बिना हैरतअंगेज लगना ही जादुई यथार्थवाद है। इस तकनीक का विकास सर्वप्रथम लातिन अमरीकी लेखन में हुआ और हिंदी में पंकज बिष्ट एवं उदय प्रकाश की कहानियों में इसके प्रभाव को परिलक्षित किया गया। किंतु इस संदर्भ में इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जादुई यथार्थवाद की तकनीक हमारे यहाँ बिल्कुल नई नहीं है। इसका प्रयोग भले ही कम हुआ हो किंतु हिंदी में मुक्तिबोध 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' कहानी में इसका प्रयोग पहले ही कर चुके थे। हमारे समाज में ब्रह्मराक्षस की अवधारणा बहुप्रचलित है। मुक्तिबोध ने एक नया अर्थ दिया है जिससे कहानी अर्थगर्भित कलात्मक और रोचक हो गई है। जहाँ तक 'तिरिछ' का प्रश्न है यह कहानी जादुई यथार्थवाद की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यहाँ यथार्थ का कलात्मक और रोचक संयोजन तो है किंतु जादुई घटनाक्रम का अभाव है। इसलिए इस कहानी का सामान्यतया यथार्थवादी कोटि में ही परिगणित किया जाना चाहिए। 'तिरिछ' अपने संप्रेष्य में सफल कहानी इसलिए कही जाएगी कि वाचक की तटस्थता और निर्लिप्तता के बावजूद यह नगरीय संवेदनशून्यता एवं अमानवीयता के प्रति क्षोभ व घृणा का भाव पैदा करने में सक्षम है। इसके साथ ही यह शहर के आतंक का अनुभव कराने में भी समर्थ दिखाई पड़ती है।

20.7 प्रश्न

1. 'तिरिछ' में लेखक का उद्देश्य क्या है ?
2. समकालीन यथार्थ की प्रासंगिकता के संदर्भ में 'तिरिछ' कहानी का मूल्यांकन कीजिए।

3. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दीजिए -
   (i) जादुई यथार्थवाद-शिल्प का नवीन प्रयोग
   (ii) 'तिरिछ' एवं 'पिता' कहानियों के पिताओं की तुलना
4. पाठ-प्रक्रिया की दृष्टि से 'तिरिछ' कहानी की पड़ताल कीजिए।
5. 'तिरिछ' और पिता कहानी की विषय वस्तु की तुलना करें।

कठिन शब्दों के अर्थ

'तिरिछ' - एक विशेष प्रकार का सांप जैसा जंतु होता है, इसे विचखोपडा या विषकोबरा भी कहते हैं।

उपयोगी पुस्तकें

1. हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ - सुरेन्द्र चौधरी
2. साहित्य के समाज शास्त्र की भूमिका - मैनेजर पांडेय
3. हँस - जून 1987
4. हँस - अक्तूबर 1987

इकाई 21 त्रिशंकु : मन्नू भंडारी

इकाई की रुपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 नई कहानी आंदोलन
21.3 मन्नू भंडारी की कहानियाँ और नई कहानी
21.4 परंपरागत मूल्यों से मुक्ति की छटपटाहट
21.5 मन्नू भंडारी की नारी दृष्टि
21.6 मन्नू भंडारी की 'त्रिशंकु' : पाठ बोध और प्रक्रिया
21.7 सारांश
21.8 प्रश्न
उपयोगी पुस्तकें

21.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप नई कहानी आंदोलन की एक महत्वपूर्ण लेखिका के रूप में मन्नू भंडारी के कथा साहित्य से परिचय प्राप्त करेंगे। इनकी एक सशक्त कहानी 'त्रिशंकु' पाठ हेतु आपके सामने है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- नई कहानी आंदोलन की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को जान सकेंगे,
- नई कहानी आंदोलन और मन्नू भंडारी के कथा साहित्य से परिचित हो सकेंगे,
- 'त्रिशंकु' कहानी के माध्यम से परंपरागत मूल्यों से मुक्ति की छटपटाहट और नए मूल्यों के निर्धारण और स्वीकार के बीच के आत्मसंघर्ष तथा उलझन को गहराई से समझ सकेंगे,
- 'त्रिशंकु' में अभिव्यक्त मन्नू भंडारी की नारी संबंधी दृष्टि का विवेचन कर सकेंगे,
- नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के मध्य होने वाले संघर्ष को दो पीढ़ियों की विचारधारा के बीच के संघर्ष के रूप में चित्रित कर सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

मन्नू भंडारी हिंदी कहानी के उस दौर की एक महत्वपूर्ण लेखिका हैं जिसे नई कहानी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन में उनके साथ जिन दो अन्य लेखिकाओं की सक्रिय भागीदारी रही वे कृष्णा सोबती और उषा प्रियंवदा हैं। नई कहानी का यह आंदोलन, मोटे तौर पर, सन् 54 से सन् 63 के बीच माना जाता है। मन्नू भंडारी अथवा इस आंदोलन से जुड़े किसी भी लेखक के किसी सार्थक और वस्तुपरक मूल्यांकन के लिए इस आंदोलन की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है।

देश की स्वाधीनता एक ऐसी विभाजन रेखा है जो समाज और साहित्य को देखने का सारा दृष्टिकोण बदल देती है। शुरू में यह परिवर्तन बहुत स्पष्ट नहीं था। लोगों को ऐसा भी लगा कि चौदह अगस्त सन् 47 की रात में सोने और पंद्रह अगस्त की सुबह उठने पर ऐसा कुछ नहीं था जिसे किसी आधारभूत परिवर्तन का संकेत माना जा सके। लेकिन धीरे-धीरे ये परिवर्तन नदी के उद्गम स्थल के छोटे से स्रोत की तरह स्वाधीन देश की पूरी धरती पर पसरते दिखाई देते हैं। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की तत्कालीन सोच के अनुसार यह एक झूठी आजादी थी क्योंकि किसी भी स्तर पर इसमें कहीं कोई मौलिक और आधारभूत परिवर्तन था ही नहीं। यह सत्ता का

हस्तांतरण मात्र था और जिस पूंजीवादी-सामंती गठजोड़ को सत्ता मिली थी, उससे प्रेमचंद के 'गबन' के देवीदीन की बात ही सच होती दिखाई दी थी अर्थात् 'गद्दी पर जॉन की जगह गोविंद बैठ गया था।' लेकिन स्वाधीनता के दूरगामी और अनिवार्य परिणामों से देर तक बच पाना कठिन था। आए दिन पंजाबियों के आने वाले काफिले एक ऐसा सच थे, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता था। समूचे हिंदी प्रदेश में यह एक ऐसी सांस्कृतिक मुठभेड़ थी जो अस्तित्व के तात्कालिक संदर्भों से कहीं अधिक गहराई से अपना प्रभाव डालने जा रही थी। इस मुठभेड़ ने पहले तो इस क्षेत्र के मूल निवासियों को स्तब्ध और बिजड़ित किया, लेकिन फिर आशंकाओं और छिटपुट संघर्ष के बाद सहयोग और सम्मिलन की प्रक्रिया भी शुरू हुई। हिंदी प्रदेश का बहुत कुछ आत्मकेंद्रित और काफी कुछ बंद सा समाज बाहर की ओर खुलने लगा। हमारे रहन-सहन, खान-पान, तीज-त्योहार, शादी-विवाह, उत्सव-पर्व सब कहीं इस प्रभाव को देखा जा सकता है। भ्रष्टाचार और चोर-बाजारी के विरूद्ध नेहरू की उद्घोषणाओं ने भी लोगों में नई आशायें जगाई और कम से कम स्वाधीनता के बाद के आरंभिक कुछ वर्षों में राष्ट्र निर्माण की एक चेतना चलने वाली हवाओं में घुली-मिली दिखाई देती है।

धीरे-धीरे वास्तविकता प्रकट होने पर बाद में इसका कुछ भी हश्र हुआ हो, लेकिन सोवियत संघ के मॉडल पर समाजवादी समाज के निर्माण का नारा शुरू में, प्रभाव की दृष्टि से, सचमुच चमत्कृत करने वाला था। अनेक नए विश्वविद्यालयों और कालेजों की स्थापना हुई। सारे भ्रष्टाचार के बावजूद सड़कों, पुलों और परिवहन सुविधाओं का विकास हुआ। अनेक नए विभागों का निर्माण हुआ और इस सारी गहमा-गहमी के बीच थोड़ी देर को अवश्य ऐसा लगा जैसे अर्से से अवरूद्ध पानी को निकासी का मार्ग मिल गया। यह प्रभाव वैसे हर क्षेत्र और वर्ग पर पड़ा, लेकिन समाज का मध्यवर्ग इससे सीधे और गहराई से प्रभावित हुआ। लड़कियों को पढ़ाई-लिखाई के अवसर उपलब्ध हुए। पंजाबी लड़कियों के संघर्ष और प्रभाव की भी इसमें एक निर्णायक भूमिका थी, जिसने उनके ऊपरी रहन-सहन और वेश-भूषा पर ही अपना प्रभाव न डालकर उनकी सोच और व्यवहार में आधारभूत परिवर्तन उपस्थित किए। स्वाभाविक रूप से लड़कियों के विवाह की औसत आयु बढ़ गई क्योंकि अब वे घर में एकदम खाली न बैठकर कुछ सार्थक और महत्वपूर्ण कर ही थीं। उनकी एकाग्रता और निष्ठा ने, इतिहास में कदाचित पहली बार अपने लिए उपलब्ध सुविधाओं के उत्साह ने उनके भरपूर उपयोग का विवेक उनमें विकसित किया। इसके प्रत्यक्ष और स्पष्ट प्रमाण भी सामने आए। शिक्षा और नौकरियों में सब कही वे लड़कों से गहरी प्रतिद्वंद्विता और स्पर्धा में खड़ी दिखाई देने लगीं। नौकरी करने वाली लड़की या फिर भविष्य में नौकरी की आशा में पढ़ने वाली लड़की के प्रति परिवार के परंपरागत सोच में मौलिक अंतर आना स्वाभाविक था। यह अंतर उन परिवारों में और भी स्पष्ट था, जिनमें लड़कियों के मुकाबले लड़के आवारा, निठल्ले या फिर पढ़ाई-लिखाई में औसत थे।

देश की स्वाधीनता के परिणाम स्वरूप लड़कियों की सामाजिक स्थिति में घटित यह परिवर्तन उनकी बौद्धिक स्वीकृति जीवन की दूसरी दिशाओं में भी उनके मानसिक संघटन को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता था। घर से बाहर निकलकर पुरुषों के संपर्क में आकर परंपरागत सामाजिक प्रतिबंधों और रूढ़ियों का चटखना-टूटना अनिवार्य था। प्रेम, विवाह और यौन-शुचिता के नैतिक आग्रहों में आए परिवर्तन में इसे सब कहीं देखा जा सकता है। ये स्थितियाँ संबंधों को नए सिरे से परिभाषित किए जाने की माँग करती थीं। इन संबंधों में परंपरागत परिचित संबंध तो थे ही, वे संबंध भी थे, जो कदाचित पहली बार सामने आए थे। ये पारस्परिक समादर और समझ के आधार पर बने संबंध थे जो सारी सामाजिक वर्जनाओं और निषेधों को तोड़ बहाकर अपनी शर्तों पर अपने होने की घोषणा कर रहे थे। तलाक को कानूनी स्वीकृति मिल जाने पर विवाह के पाखंड को बनाए और चलाए रखने की मजबूरी खत्म हो गई। यह अशरीरी और अवायवी प्रेम के लौकिक और दैहिक स्वीकृति की शुरूआत भी थी।

21.2 नई कहानी आंदोलन

जिस काल खंड की कहानी को 'नई कहानी' कहा गया उसे मोटेतौर पर सन् ' 54 से सन् 63' की समयावधि में बांधा जा सकता है। इसे एक अलग पहचान के लिए 'नई कहानी' किसने कहा, इस पर भी मतभेद है। कुछ लोग इसका श्रेय नामवर सिंह को देते हैं और कुछ दुष्यंत कुमार को। लेकिन इस संदर्भ में नामवर सिंह की यह बात ही ठीक लगती है, ' कहानी की चर्चा में अनायास ही 'नई कहानी' शब्द चल पड़ा है और सुविधानुसार इसका प्रयोग कहानीकारों ने भी किया है और आलोचकों ने भी .....' (कहानी : नई कहानी, 66, पृ. 53) इस सिलसिले में देवीशंकर अवस्थी मानते हैं कि दिसंबर सन् 57 में प्रयाग में होने वाले साहित्यकार सम्मेलन तक नई कहानी अभियान लगभग स्वीकृत हो चुका था। इस सम्मेलन में शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई और मोहन राकेश द्वारा पठित आलेखों में पहले ही वाक्यों में 'नई कहानी' का प्रयोग किया गया है।

नई कहानी यथार्थ और जीवन की वास्तविकता के अंकन की दृष्टि से अपने को पिछली कहानी से अलग करती है। इस आंदोलन और विचारों के आधार पर कहानी के गढ़े जाने का विरोध करती है। इस आंदोलन में जैनेंद्र कुमार और अज्ञेय का विरोध जीवन के अमूर्त्तन और छद्म-दार्शनिकता के कारण ही किया गया। राजेन्द्र यादव ने 'व्यक्ति' और 'समाज' की दो धाराओं को मिलाकर जीवन को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में प्रस्तुत करने की बात कही। पहले की कहानी में कोई 'विचार', 'सत्य', 'आइडिया' लेखक के सामने कौंधता था और वह कुछ पात्रों, स्थितियों और घटनाओं के संयोजन द्वारा उसे उद्घाटित करता था। इसीलिए नई कहानी में परंपरागत और रूढ़ तत्वों के आधार पर कहानी के मूल्यांकन का विरोध किया गया। नई कहानी राजनीति के प्रति भले ही उदासीन दिखाई देती हो, लेकिन अनेक स्तरों पर वह परंपरागत निष्ठाओं और आस्थाओं से मोहभंग के संकेत देती है। पुराने विचार, परंपरागत संबंध, अब तक आदर और आस्था बटोरते आदर्श और संस्थाएँ - इनके प्रति एक गहरे मोहभंग की हताशा यहाँ सर्वत्र व्याप्त है। अकारण और अर्थहीन संयम के प्रति एक तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि की उपस्थिति के कारण यशपाल आर्यसमाज और गांधीवाद का तीखा विरोध लेकर कहानी में आए थे। स्वाधीनता के बाद के वर्षों में इन संस्थाओं का बचा-खुचा मुलम्मा भी उतर गया। आश्रम, भूदान-योजना, गांधीवादी संस्थान और तथाकथित धार्मिक साधु-संन्यासियों के मठ इस नई कहानी में सब कहीं विद्रूप और तिरस्कार के पात्र हैं। कुल मिलाकर यह बने-बनाए निष्कर्षों और सरलीकरणों के विरूद्ध अपने रचनात्मक विवेक का आधार लेकर विकसित होने वाली कहानी है।

कहानी में इस नए कथ्य और संवेदना को वहन करने के लिए उसके रचनातंत्र में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक था। कहानी की अंतर्वस्तु ही उसकी भाषा एवं अन्य उपकरणों को निर्धारित करती है। आंचलिक और दूसरी भाषाओं के लेखकों के हिंदी में आने और सक्रिय होने से यह जरूरी था कि उनके अपने अंचलों और क्षेत्रों की भाषिक-गंध और अर्थ छवियाँ भाषा में आए। पंजाबी, कुमांऊनी, भोजपुरी आदि क्षेत्रीय भाषाओं के मेल से, उनकी छौंक-बघार से नई कहानी के भाषिक क्षितिज का विस्तार होना स्वाभाविक था। चूँकि नई कहानी की अंतर्वस्तु ढोंग और विगलित प्रायः आदर्शों के विरोध को अपना प्रस्थान बिंदु मानकर रूपाकार ग्रहण कर रही थी, उसमें एक खास तरह का आवेश और आक्रामकता थी, जिसे सीधी, बेलौस और रोज़मर्रा की भाषा में ही अभिव्यक्त किया जा सकता था। यही कारण है कि नई कहानी में पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखकों की तत्सम शब्दों के बाहुल्य वाली भाषा के स्थान पर अधिक सहज और अपनी अंतर्वस्तु की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली भाषा के विकास पर जोर दिया गया। ऐसा नहीं है कि इस भाषा का जन्म इसी नई कहानी के साथ हुआ हो। यह वस्तुतः भारतेंदु हरिश्चंद्र और प्रेमचंद की गद्य भाषा का ही विस्तार था जिसमें परिष्कार करके उसे अपनी जरूरतों के अनुरूप ढाला गया था।

कहानी में व्याख्या के उपकरणों का उपयोग भी खूब हुआ है। चूंकि नई कहानी विचारों के आरोपण का विरोध करती थी, इसलिए अभिव्यक्ति में संयम को विशेष महत्व देती थी। कहने की अपेक्षा न या कम कहकर यह काम आसानी से किया जा सकता था। इसीलिए इसमें सांकेतिकता पर विशेष बल दिया गया। ब्यौरों और वर्णन की अपेक्षा बिंबों और प्रतीकों के प्रयोग के प्रति भी आग्रह बढ़ा। प्रेमचंद के मुकाबले भाषा और रचनातंत्र में विशेषताएँ उनके बाद की कहानी में, विशेषकर जैनेंद्र और अज्ञेय में, पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। लेकिन पूर्ववर्ती कहानियों की सांकेतिकता और नई कहानी की सांकेतिकता को मोहन राकेश अनुभव की निजता और जीवन-यथार्थ की व्यापक पकड़ के आधार पर अलगाने की कोशिश करते हैं। वर्णन-बाहुल्य से बचने के लिए सांकेतिकता का आग्रह ही वस्तुतः प्रतीक-विधान की संभावनाओं को उजागर करता है। लेकिन प्रतीक-विधान यदि सहज न होकर आरोपित हो तो उसकी सारी सार्थकता ही संदिग्ध हो जाती है। मोहन राकेश और राजेंद्र यादव की अनेक कहानियाँ इस सहि और आरोपित प्रतीक विधान के लिए उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। निर्मल वर्मा की ' भाषा दर्पण' में बंजर मैदान, टीले, ढूह और उड़ती हुई धूल के ऊपर फैली पीली, मटमैली उदास धूप, 'तरन के मन की उदासी' एवं 'अंर्तव्याप्त त्रासदी' को जितनी सघनता से अभिव्यक्त करते हैं, उसे किसी और रूप में अभिव्यक्त कर पाना शायद संभव ही नहीं था।

नई कहानी में बिंब-विधान के प्रति लेखकों का आकर्षण भी उसकी अंतर्वस्तु की जटिलता की एक अनिवार्य माँग के रूप में देखा जाना चाहिए। अपने पात्रों के भावों और मनोदशाओं को वर्णनों एवं ब्यौरों द्वारा कदाचित इतने प्रभावी ढंग से अंकित नहीं किया जा सकता था। इस भावात्मक जटिलता को बिंबों द्वारा व्यक्त करने की सजगता इस दौर के प्रायः सभी कहानीकारों में दिखाई देती है। शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' में निर्जन-बीराने में गुसाई की चक्की से निकलती भक्-भक् की आवाज, बाहर बहती कोसी की सूखी-धारा और पिसान के लिए खप्पर में अनाज डालकर बाहर निकलने पर आटे की उड़ती सफेदी में लिपटा उसका पूरा शरीर उसके मन में बसी गहरी उदासी, अकेलेपन में खीजने की पीड़ा को जितने सघन रूप में व्यक्त करते हैं, उसे देखते हुए नई कहानी में बिंब विधान की भूमिका को आसानी से समझा जा सकता है। निर्मल वर्मा और रामकुमार की अनेक कहानियाँ इस बिंब विधान के कारण ही कविता जैसी भाव सघनता उत्पन्न कर पाने में सक्षम हैं।

21.3 मन्नू भंडारी की कहानियाँ और नयी कहानी

नई कहानी आंदोलन के संदर्भ में, अपनी भूमिका को लेकर, अजित कुमार के साथ अपने साक्षात्कार में मन्नू भंडारी ने स्वीकार किया है, '(नई) कहानी' आंदोलन के केंद्र में क्या, मैं तो किनारे पर भी नहीं थी। यह महज संयोग की बात है कि जब मैंने लिखना शुरू किया तो 'नयी कहानी' के सूत्रधार अपने पूरे चढ़ाव पर थे। उन सभी से मेरा घनिष्ठ संबंध, संपर्क था, सो मेरा नाम भी जुड़ गया। इसे मेरी मासूमियत मत समझिए, सच्चाई है कि मुझे आंदोलन का क-ख-ग भी नहीं आता था उस समय ..... ' ('त्रिशंकु' और अन्य कहानियों में संकलित 'मन्नू जी के तमाम रंग, पृ. 17') घोषित और योजनाबद्ध तरीके से वे भले ही इस आंदोलन में सक्रिय न रही हों, लेकिन यह सच है कि रचनात्मक स्तर पर वे इस आंदोलन और उसकी उपलब्धियों से बहुत सीधे तौर पर जुड़ी रही हैं।

नई कहानी के सूत्रधारों की तरह, नई कहानी के स्वरूप विश्लेषण के लिए, भले ही मन्नू भंडारी का कोई वक्तव्य उपलब्ध न हो लेकिन सन् 57 में प्रकाशित उनका पहला संग्रह 'मैं हार गई' की कई कहानियाँ कहानी में आए इस गुणात्मक अंतर को स्पष्ट करती हैं।

यहाँ अनुभव की प्रामाणिकता और प्रामाणिक अनुभव की स्थिति भी विचारणीय है। जहाँ तक अनुभव की प्रामाणिकता का प्रश्न है, उसी के माध्यम से साहित्य में अनुभववाद का प्रवेश हुआ। स्वयं मन्नू भंडारी स्थान-स्थान पर इस अनुभववाद के विरुद्ध अपना आक्रोश भी प्रकट करती हैं। अपने व्यक्तिगत अनुभव को जब तक तर्क और विवेक की कसौटी पर कस नहीं

लिया जाता तब तक वह कोरा अनुभव मात्र रह जाता है, उसे ज्ञान का दर्जा नहीं दिया जा सकता। केवल अनुभव या आत्मानुभव के आधार पर लिखी गई मोहन राकेश और निर्मल वर्मा की बहुत-सी कहानियाँ पाठक को चकत्कृत तो करती हैं, लेकिन उन्हें कहीं ले नहीं जाती, कोई दिशा नहीं देती। मन्नू भंडारी नयी कहानी की इस प्रकृति के प्रति पर्याप्त सावधान दिखाई देती हैं। अतः वे आत्मानुभवों को प्रायः सामाजिक संश्लिष्टता में ही प्रस्तुत करती हैं। उन्हें ऐसा नहीं लगता कि भ्रष्टाचार, चोरी, रिश्वतखोरी के प्रत्यक्ष अनुभव के बिना इन पर अच्छी कहानी नहीं लिखी जा सकती। वस्तुतः वे सामाजिक विकृतियों, विशेषकर नारी जीवन संबंधी विडम्बनाओं को चित्रित करते हुए काफी संयम से काम लेती हैं, उस पर उनके 'विज़न' और विवेक का अंकुश बराबर बना रहता है। इसलिए उनके विरोध का स्वर एक सकारात्मक और सर्जनात्मक सामाजिक भूमिका अदा करता है।

'दो कलाकार' स्वयं एक गढ़ी और बनाई गई कहानी होने के बावजूद जीवन में रचना और कर्म की एकता पर जोर देती है। भिखारिन की मृत्यु के बाद करुणा प्लावित होकर चित्रा उसका चित्र बनाती है - मृत माँ की लाश से चिपके दो अबोध और अनाथ बच्चों का चित्र। फिर कला के अध्ययन के लिए वह विदेश चली जाती है जहाँ उसे इस 'अनाथ' शीर्षक चित्र के लिए विशेष ख्याति मिलती है। लोगों को लगता है कि एक और अमृता शेरगिल का जन्म होने को है। उसकी अभिन्न सखी अरुणा चित्रा के विदेश जाते समय उसे विधिवत विदा भी नहीं कर पाती है, उसकी प्रतिक्षा में आँखें बिछाए ही चित्रा को चले जाना पड़ता है। चित्रा की वापसी पर, उसके चित्रों की प्रदर्शनी के अवसर पर, अरूणा से जब उसकी भेंट होती है तो उसके साथ दो सुंदर और प्यारे से बच्चों को देखकर वह अभिभूत रह जाती है। भले ही अरूणा अब विवाहित हो लेकिन निश्चय ही इतने बड़े बच्चे उसके नहीं हो सकते। बच्चे बहुत प्यार और आत्मीयता से उसके साथ पेश आते हैं और बहुत बाद में चित्रा को पता चल पाता है कि ये वस्तुतः उस भिखारिन के वे ही बच्चें हैं, जिनका चित्र बनाकर वह देश-विदेश में बहुत ख्याति अर्जित कर चुकी हैं। जो चित्रा अरुणा के सेवा-कर्म का मजाक उड़ाती रही थी, उसके कर्म के आगे अपनी सारी रचनात्मकता को लेकर आज बौनी-सी लगती है। जीवन में कर्म के प्रति चित्रा की तरह उदासीन रहने वाले लोग ही वस्तुतः रचना में कलावाद का सहारा लेते हैं। चित्रा के चित्र 'कन्फ्यूजन' में अमूर्त्तता और प्रतीक-बहुलता को लेकर अरूणा की टिप्पणी प्रकारांतर से नई कहानी में घुसपैठ करती प्रतीक-बहुलता और कलावाद के विरोध में की गई टिप्पणी ही लगती हैं।

मन्नू भंडारी की 'दो कलाकार' और 'कन्फ्यूजन' दोनों ही कहानियाँ तथा कथित नयी कहानी की दृढ़ लीक का अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति का संकेत देती हैं। इससे नयी कहानी की स्थिति पर अलग कोण से विचार करने की आवश्यकता भी रेखांकित होती है। एक आंदोलन के रूप में नयी कहानी जैसा एक अखंड और समग्र आंदोलन समझने की भूल बहुत से आलोचकों से हुई है। वस्तुतः ध्यान से देखा जाए तो नयी कहानी की भी स्पष्ट रूप से दो धाराएँ हैं, जिनमें परस्पर भिन्नता ही नहीं, दो विरोधी विचार सरणियाँ, दो विरोधी भावधाराएँ दिखाई देती हैं। इन्हें सुविधा के लिए व्यक्तिनिष्ठ-भावनिष्ट धारा और समाजनिष्ठ-वस्तुनिष्ठधारा की संज्ञा दी जा सकती है। इनमें पहली धारा का प्रतिनिधित्व मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा आदि करते हैं और दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व भीष्म साहनी, मार्कण्डेय, शेखर जोशी आदि द्वारा हुआ है। कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी इस दूसरी धारा के निकट पड़ती है। उपर्युक्त दोनों कहानियों में मन्नू भंडारी ने प्रकारान्तर से बिंब बहुल और प्रतीक बहुल कलावाद का विरोध किया है, जो मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि की रूपवादिता का भी विरोध है। ये लोग मध्य वर्ग के व्यापक सत्य की अपेक्षा उसके नितान्त आत्म-ग्रस्त वैयक्तिक सत्य को ही अपना विषय बनाते हैं। अपनी इस कमी को छिपाने के लिए रूप या शिल्प का सहारा लेते हैं। वस्तु तत्व का संकोच और कलावाद का विरोध भीष्म साहनी, शेखर जोशी, मार्कण्डेय आदि में और अधिक हुआ है। ये सभी नयी कहानी के कहानीकार माने जाते हैं। लेकिन रूढ़ि और परम्परा विरोध के नाम पर व्यक्तिनिष्ठ भावधारा के कहानीकार जहाँ सभी प्रकार के सामाजिक मूल्यों का विरोध करते हुए एक मूल्यहीनता और हताशा की स्थिति प्रतिष्ठित करते हैं, वहाँ

समाजनिष्ठ भावधारा के कहानीकार किसी-न-किसी रूप में मूल्यों की, चाहे वे परम्परा से जुड़े मूल्य ही क्यों न हों, प्रतिष्ठा करते हैं। भीष्म साहनी की कहानी पर विचार करते हुए आपने इस तथ्य पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि 'चीफ की दावत' कहानी में माँ को फालतू वस्तु समझ कर कहीं छिपाने का जो प्रयास हुआ है, वह गलत था। वस्तुतः माँ परम्परागत और स्वस्थ मूल्यों का प्रतीक है, जो हमें नयी मूल्यवत्ता से जोड़ती है। इसी माँ के द्वारा कहानी के मध्यवर्गीय नायक का अपने चीफ से जीवन्त संपर्क होता है। बहुत कुछ यही स्थिति मन्नू भंडारी की कहानियों में भी मिलेगी। पुराने के नाम पर उनमें कहीं मूल्य-विरोध नहीं मिलेगा और विगलित मूल्यों का विरोध मिलेगा भी तो एक नए स्वस्थ मूल्य की ओर संकेत भी मिलेगा।

21.4 परंपरागत मूल्यों से मुक्ति की छटपटाहट

आजादी के बाद समूचे भारतीय साहित्य और हिंदी साहित्य का केंद्रीय विषय एक ही रहा है - परम्परागत मूल्य भ्रमों से मुक्ति। आजादी के बाद लगभग 30-35 वर्षों के साहित्य में यथार्थ और स्वप्न, मोहभंग या आत्म संघर्ष अभिव्यक्त हुआ है, उसका संबंध किसी-न-किसी तरह परंपरागत मूल्यों को तोड़ने से ही है। निःसंदेह आजादी के बाद के वर्षों में परंपरागत मूल्य भ्रमों से मुक्ति की छटपटाहट ही साहित्य के केंद्र में थी। लेकिन मूल्यों से मुक्ति के साथ, दूसरी तरफ नए मूल्यों के निर्धारण और सामाजिक स्तर पर उनकी स्थापना की कोशिश भी जारी रही। बीतने और आने वाले दो परस्पर विरोधी विचार एवं दो युगों का निरंतर संघर्ष दिखाई देता रहा है समाज और साहित्य में। एक ओर विश्वासों को जनम देने वाली नयी चेतना थी और दूसरी ओर चेतना को शासित करने वाले पुराने विश्वास परंतु एक तरफ पनपती हुई मूल्य चेतना और एक ढहती हुई परंपरा के संघर्ष में गहरे विशाद में डुबो देने वाली बात यह थी कि भारतीय जन परंपरागत मूल्य-भ्रमों से धीरे-धीरे मुक्त तो होने लगा था किंतु वर्तमान जीवन के बीच अपने-आपको कहीं पर भी ठीक तरह से फिट नहीं कर पा रहा था। यानि समुचा जनमानस बाहरी एवं भीतरी स्तर पर एक भयानक अंतर्विरोध का शिकार हो चुका था। और हर संभव प्रयासों के बावजूद भी स्वयं को 'आधुनिक' बना नही पा रहा था। भारतीय स्त्री की इस त्रासदी को अन्य लेखकों की तरह मन्नू जी ने भी अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। वास्तव में आधुनिक जीवन स्थितियों के समानान्तर अधिकार प्राप्त करने की लालसा या फिर प्राप्त करवा देने की क्रियात्मकता के साथ, रस्मो-रिवाज और विचार के स्तर पर आधुनिक बनने की लालसा को व्यंजित करना, मन्नू जी की 'त्रिशंकु' का मुख्य कथ्य है। लेकिन 'आज का भारतीय मानस संस्कारों और आधुनिकता के द्वंद्व में इस कदर घिरा हुआ है कि उसकी स्थिति अधर में लटके त्रिशंकु की हो गई है। बौद्धिकता का दबाव उसे कथित आधुनिकता की ओर धकेलता है और संस्कारगत तथा सामाजिक स्थितियाँ उसे परम्परागत मूल्यों की ओर वापस खींच लाती हैं।' (डॉ. महीप सिंह, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ)

हम देख सकते हैं कि परंपरागत मूल्यों से मुक्त होने की छटपटाहट में, भारतीय स्त्री वर्तमान जीवन की त्रासद स्थितियों के बीच जीने-मरने के लिए विवश है, परंतु वह अपने को पूर्णतः आधुनिक बना नहीं पा रही है। असल में रहन-सहन और विचारों के स्तर पर आधुनिक बनने की चाहत जब तक भावना-मूलक अर्थ में होती रहेगी, तब तक कुछ बनने, बनाने की चाहत भरी अभिव्यक्ति न सिर्फ साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में वरन् व्यापक सामाजिक बदलाव के अर्थों में भी असफल सिद्ध होती रहेगी। 'त्रिशंकु' इसी असफलता को व्यंजित करते हुए, तथाकथित आधुनिकता का नकाब पहनने वाली स्त्री को बेनकाब करती है; आधुनिकता की चाह और बौद्धिकता के बावजूद परंपरागत मूल्य उसे बार-बार अपनी ओर खींच लेते हैं। 'मुक्त रहो और मुक्त रखो' का नारा लेकर चलने वाले मम्मी-पापा ने जब तनु और उसके दोस्त लड़कों के मुक्त रहने का जो रूप देखा तो मोहल्ले वालों के साथ-साथ उनकी आंखों में भी *कुछ अजीब-अजीब सी शंकाएँ तैरने लगी। मम्मी को जब तनु और शेखर नामक लड़के के बीच प्रेम जैसी कोई चीज पनपते हुई दिखी, वह तनु पर लगभग बरस पड़ती है।* ' तुमको छूट

दी ..... आज़ादी दी, पर इसका यह मतलब तो नहीं कि तुम उसका नाजायज फायदा उठाओ! बित्ते भर की लड़की और करतब देखो इनके! जितनी छूट दो उतने पैर पसरते जा रहे हैं, इसके। एक झापड़ दूंगी तो सारा रोमांस झड़ जाएगा दो मिनट में.....'(त्रिशंकु, पृ. 120)

यह अप्रत्याशित बात सुनकर तनु तिलमिला जाती है। तनु और शेखर का मिलना बंद हो जाता है, दोनों के बीच माता-पिता के निषेधों से भरीसंकीर्णता की एक दीवार बनकर खड़ी हो जाती है। तनु कुछ बुझी-बुझी सी रहने लगती है। उधर शेखर भी गमगीन सा रहने लगता है। स्थिति की बोझिलता को देखकर मम्मी का मन भी उदास हो जाता है, वह एक बार अपने आपको धिक्कारते हुए तनु और शेखर की दुबारा दोस्ती करवा देती है। साथ में यह कहते हुए कि 'अरे, इस उ(ह)ा में लड़कों को चाहिए घूमें, फिर..... मस्ती मारे।' मम्मी की तरफ से फिर से दी गई स्वतंत्रता से तनु कुछ हद तक आश्वस्त हो जाती है। लेकिन मम्मी को फिर से न जाने क्या हो जाता है कि वह तनु को समझाने के लहजे में कहने लगती है 'देखो, तनु अभी तुम बहुत छोटी हो। अपना सारा ध्यान पढ़ने-लिखने में लगाओ और दिमाग से ये उल्टे-सीधे फितूर निकाल डालो। ठीक है बड़े हो जाओ तो प्रेम भी करना और शादी भी। मैं तो वैसे भी तुम्हारे लिए लड़का ढूंढ़ने वाली नहीं हूँ, अपने आप ही ढूंढ़ना इतनी अकल तो आ जाए कि ढंग का चुनाव कर सको।'(त्रिशंकु, पृ. 120) तो कभी धमकाने के लहजे में कहती 'तनु तुझे पूरी छूट दे रखी है, बेटे पर इतना ही तेज चल कि मैं भी साथ तो चल सकूँ।'(त्रिशंकु, पृ. 121)

मम्मी के इन दो अलग-अलग व्यक्तित्व को तनु समझ नहीं पाती। कभी वह परंपराओं के चंगुल में फंसी, आधुनिकता का विरोध करती नजर आती है तो, अगले ही पल फिर 'मुक्त रहो और मुक्त रखो' जैसे प्रगतिशील नारे को लेकर उपस्थित हो जाती। तभी तो तनु का शेखर के कमरे पर जाना उसे क्रोध से भर देता है। मोहल्ले भर को उनकी दकियानूसी सोच के लिए कोसती मम्मी भी उन्हीं की भाषा में बोलने लगती हैं। 'मुँह दिखाने लायक मत रखना हमको कहीं भी। सारी गली में थूं-थूं-थूं हो रही है। '(वही, पृ. 123) तनु को मम्मी की क्रांतिकारी चेतना दूर कहीं छिटकी पड़ी नजर आती है। अब तो उनका अंदाज निहायत ही सनातनी लगने लगता है। वह मम्मी से पूछना चाहती है 'इतने बंधन लगाकर रखना था तो शुरू से वेसे पालती। क्यों झूठ-मूठ की आजादी देने की बातें करती सिखाती रही।' लेकिन उससे कुछ भी पूछते नहीं बनता। वह अपने में सिमट जाती है। मम्मी और पापा के प्रेम-विवाह प्रसंग में नाना ने कभी विवाह का तीव्र विरोध किया था, और मम्मी ने उस विरोध का पूरी तरह सामना करके अपने मकसद में जीत हासिल की थी। लेकिन मम्मी का विरोध करने वाले उसके 'नाना पूरी तरह नाना थे - शत-प्रतिशत और इसी से मम्मी के लिए लड़ना आसान हो गया था।' लेकिन यहाँ तो मम्मी एकपल नाना होकर जीती है तो दूसरे पल मम्मी होकर। तनु की स्थिति इसीलिए अधर में लटके हुए त्रिशंकु की सी हो जाती है। वर्तमान समाज-जीवन की त्रासद स्थितियों के बीच जीने के लिए विवश हो जाती है। तनु की पीढ़ी में निर्णय लेने का साहस है, ऊपरीतौर पर वातावरण भी इस साहस को उकसाता है। वातावरण में वर्जनाओं से मुक्ति के स्वर भरे हुए हैं लेकिन जब कोई निर्णायक क्षण आता है, तब पुरानी पीढ़ी के मूल्य आड़े आ जाते हैं। तनु को मम्मी का विरोध सहना पड़ता है, जिन्होंने स्वयं प्रेम-विवाह किया था। तनु की परेशानी पुरानी मानसिकता का विरोध नहीं है। उसे तो वह सरलता से कर सकती है। लेकिन जहाँ पुराना और नया दोनों गड्डमड्ड हो वहाँ उलझन बढ़ जाती है। पुरातन मूल्यों की जकड़न से मुक्ति की छटपटाहट में भारतीय स्त्री, वर्तमान जीवन की त्रासद स्थितियों के बीच जीने के लिए विवश हो गई है। परंतु वह अपने को पूर्णतः आधुनिक बना नहीं पा रही हैं। भारतीय स्त्री की इस त्रासदी को अन्य अनेकों की तरह मन्नू जी ने भी अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की कोशिश की है।

21.5 मन्नू भंडारी की नारी दृष्टि

नारी के प्रति जिस स्वेच्छाचारी सामंती दृष्टि का एक हल्का-सा आभास 'पंडित गजाधर शास्त्री' में मिलता है, 'मैं हार गई' और 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' की कितनी ही कहानियों में

लेखिका अपनी स्वीकृति मूलक दृष्टि को विस्तार देने की सजग कोशिश करती है। 'घुटन' और ' ईसा के घर इंसान' सामाजिक रूढ़ियों एवं धार्मिक वर्जनाओं के नाम पर स्त्री के अपने व्यक्तित्व को कुंठित किए जाने का विरोध करती हैं। इन निषेधों और वर्जनाओं के अनुरूप जीवन को ढाल लेने की उपलबधि भी अंततः क्या है? 'एक कमजोर लड़की की कहानी' का रूप आखिर क्या हासिल करती है ? अपने जीवन के छोटे-से छोटे निर्णय को भी वह कभी पिता तो कभी चाचा-चाची और ललित के कारण स्थगित - परिवर्तित करती रहती है। जीवन की राह पर बहुत आगे निकल आने पर, जब वह ललित के साथ पीछे मुड़कर एक नई शुरूआत के लिए फिर जैसे-तैसे अपने को तैयार करती है तो इस बार उसके पति वकील साहब ही अपने एक पुराने मित्र की मुसीबत की कहानी सुनाकर उसके निर्णय को गड़बड़ा देते हैं। मित्र की पत्नी वही सब करके पति की जगहंसाई और परेशानी का कारण बनी है, जो आज रात वह ललित के साथ करने जा रही है। और तब उसका सारा निर्णय, एक पुरानी और पोली इमारत की तरह पहली बरसात में ही फडफड कर गिर पड़ता है। 'जीती बाजी की हार' की मुरला नारी की मूलभूत नैसर्गिक आकांक्षाओं के आगे परास्त होकर ही सुख अनुभव करती है। संस्कारों और प्रवृत्ति के विरूद्ध किया जाने वाला लंबा संघर्ष अंततः उसे स्वयं ही अर्थहीन लगने लगता है। 'गीत का चुंबन' की कनिका अपनी सहज वृत्ति से हाड़-मांस की जीती-जागती युवती है, जो निखिल द्वारा किताबी स्त्री की भावुक परिकल्पना के विरोध में तीखा आक्रोश प्रकट करती है। इन कहानियों में मन्नू भंडारी ने पर्याप्त संयत ढंग से एक ऐसी नारी को गढ़ने की कोशिश की है जो पश्चिम की नारीवादी दृष्टि से मुक्त रहकर भी क्रमशः एक जीवित और आत्म सजग स्त्री के रूप में ढलती जाती है। अर्थहीन विधि-निषेधों के लिए अपना जीवन बरबाद करने की अपेक्षा वह अपना जीवन अपने ढंग से, अपने लिए गए निर्णयों के अनुरूप जीना चाहती है। लेकिन अपने ढंग से जीने के इस आग्रह के पीछे कहीं भी स्वेच्छाचार और उच्छृंखल प्रदर्शन-भाव नहीं है।

मन्नू भंडारी की पढ़ी-लिखी आत्म सजग स्त्री में घटित इस परिवर्तन के संकेत 'दीवार, बच्चे और बरसात' तथा 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' में भी देखे जा सकते हैं। 'हार' पुरुष की कल्पित उदारता के बावजूद स्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता के दुष्परिणामों की ओर संकेत करती है। 'दीवार, बच्चे और बरसात' में मुहल्ले की औरतों के जरिए, उनके अपने मुहावरे में, इस आत्म सजग युवती के संकेत मिलते हैं, जिसे रूढ़ और परंपरागत मान्यताओं की कसौटी पर कसा जाकर बहुत आसानी से कुलटा भी प्रमाणित किया जा सकता है। ऐसा करने में, बनारस की शौकीन वे औरतें कुछ उठा भी नहीं रखती हैं। लेकिन उन्हीं की बातों से वे संकेत भी उभरते चलते हैं जो स्त्री की आत्म-सजगता, कलात्मक अभिरूचियों, व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास आदि के विरोध में पति को निरंकुश और दकियानूस प्रमाणित करते हैं। स्त्री का वास्तविक विद्रोह वस्तुतः पुरुष वर्चस्व वाली इस सामंती दृष्टि को लेकर ही है। इस कहानी को पढ़कर ज्ञानरंजन की प्रसिद्ध कहानी 'फेंस के इधर और उधर' के प्रेरणा-स्रोतों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। 'खोटे सिक्के' की लक-दक, फैशनेबुल किस्म की छात्राओं को लेकर सधे और संयत व्यंग्य का कौशल आश्वस्त तो करता ही है, मन्नू भंडारी की उस विशेषताओं की ओर भी संकेत करता है जहाँ अपनी समकालीन कथा लेखिकाओं में वे लगभग अकेली दिखाई देती हैं। यह प्रेमचंद और यशपाल से उपलब्ध मूल्य-दृष्टि और रचना-दृष्टि है, जिसका भरपूर उपयोग महिला कथाकारों में चंद्रकिरण सौनरेक्सा के यहाँ भी मिलता है। नई कहानी के रोमानी आत्मग्रस्तता के दौर में इसका समुचित विकास एक भिन्न स्तर पर शेखर जोशी, मार्कण्डेय और भीष्म साहनी में मिलता है। मन्नू भंडारी को यह श्रेय सहज ही दिया जा सकता है कि इस रोमानी आत्मग्रस्तता से बाहर आकर, अपनी आरंभिक कहानियों में भी, वे अंतर्वस्तु के वैविध्य और विस्तार का एक प्रीतिकर प्रभाव छोड़ने में सफल होती है। 'सयानी बुआ', 'अकेली' और 'मजबूरी' आदि कहानियों में उन्होंने वृद्धाओं की ममता और व्यापक संवेदनशीलता को गहराई से अंकित किया है। 'अभिनेता' और 'मैं हार गई' में समाज में नैतिक मूल्यों के ह्रास की चिंता स्पष्ट है, मन्नू भंडारी की ये कहानियाँ उनकी उस सामाजिक चिंता का साक्ष्य मानी जाती है जो उनके परवर्ती रचनात्मक विकास में बृहत्तर संदर्भों से जुड़ती हैं।

थोड़ा आश्चर्यजनक लगते हुए भी यह सच है कि नारी-मन की अनचाही गहराइयों को चाहने तथा नारी को उसकी अपनी दृष्टि से प्रस्तुत किए जाने के आग्रह के बावजूद मन्नू-भंडारी ने प्रचलित अर्थ वाली प्रेम कहानियाँ बहुत कम लिखी हैं। अपनी पीढ़ी में वे कदाचित अकेली लेखिका हैं, जिन्होंने नारी को विभिन्न पारिवारिक रिश्तों और व्यापक सामाजिक संदर्भों में अंकित किया है। उनके यहाँ दादी, माँ, बुआ, बहन, पत्नी, पुत्री और प्रिया आदि के विविध रूपों में स्त्री मिलती है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों और सामाजिक स्थिति के प्रति सजग होती युवती को बेशक मन्नू भंडारी ने बहुत ममता से गढ़ा है लेकिन वह कहीं भी अपने में अकेली न होकर विभिन्न पारिवारिक-सामाजिक संदर्भों में बनी रह कर अपने होने को सार्थक करती है। वे स्त्री को पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अंकित करती हैं। 'संख्या के पार' और 'रानी माँ का चबूतरा' की स्त्रियाँ केवल माँ हैं जो अपनी संतान के नैतिक स्खलन के बावजूद इसके प्रति गहरी ममता रखती हैं। 'नशा' की आनंदी मूलतः एक पत्नी है, जो सिलाई-पिसाई करके भी अपने शराबी पति को लड़का-बहू से छिपाकर रुपये भिजवाती है। 'बाँहों का फेरा' की कम्मो भी पत्नी है। चौबीस वर्ष की जवान और सुंदर युवती, जो व्यापारी पति के एक बच्चे की माँ बनकर भी अतृप्त बनी रहती है। उसकी ओर से उदासीन पति शेयर मार्केट के उतार-चढ़ाव, तेजी-मंदी को लेकर व्यस्त है। कम्मो की यह लालसा उसे बेचैन करती है कि किसी की सबल बाँहों के फेर में अपने को पीस दे। प्रथम यौवन का प्रेम और शैलेन के पत्रों की स्मृति उसकी इस अतृप्ति को और बढ़ाते हैं। 'स्त्री-सुबोधिनी' में उन लोगों को लेकर गहरे तक छीलने वाला व्यंग्य शुरू से आखिर तक बना रहता है, जो अपनी पत्नी को घर की दीवारों के बीच सुरक्षित छोड़कर स्वयं मनमानी करने को स्वच्छंद हो जाते हैं और स्त्री की यह कथित सुरक्षा अनजाने ही एक गहरी जड़ता में ढलती चली जाती है। 'आते-जाते यायावर' की मिता - मीताली - एक ऐसी आत्म सजग और प्रबुद्ध युवती है, जो कृत्रिम दुलार और छद्म आधुनिकता की दोहरी मार से अपने को बचाती है। अपने-अपने ढंग से दोनों ही चीजें स्त्री के विचलन और शोषण का माध्यम रही हैं। इसीलिए चाहे मृणाल ही के पति हों या नारी से अपने अंतहीन संपर्कों के कारण अपने को जिप्सी समझता नरेन, वह दोनों से ही अपने को बचाती है। उसके लिए ये और ऐसे सारे दूसरे लोग यायावर हैं, जो उसके जीवन के किनारों को छूकर लौट जाते हैं - अपने किनारों के अंदर किसी गहरी शांत झील की तरह वह वैसी ही सुरक्षित और अनछूई बनी रहती है।

मन्नू भंडारी की प्रचलित अर्थों वाली जिन प्रेम-कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है, उनमें 'यही सच है', 'एक बार और' तथा 'ऊंचाई' प्रमुख हैं। यहाँ वे अनेक परवर्ती लेखिकाओं की तरह महज आक्रामक या बोल्ड होने के लिए अकारण शोखी से काम नहीं लेती हैं। इन कहानियों में प्रथम-प्रेम की उत्कटता और आवेग-संकुलता को ही वे विशेष महत्व देती हैं। इसके लिए नायिकाएँ अपने सुरक्षित और सुनिश्चित वर्तमान को भी दाँव पर लगा देने में संकोच नहीं करती हैं। ये कहानियाँ नैतिक-अनैतिक के सवाल से उतना नहीं टकराती, जितना एक स्थिति विशेष के अंतर्द्वन्द्व को अंकित करती हैं। संयोग से इन तीनों ही कहानियों की नायिकाओं के जीवन में दो पुरुष हैं, जिनमें से किसी को लेकर भी, मात्र सती-साधवी समझी जाने के लिए, वे अपने को छलती नहीं हैं, इनमें भी 'यही सच है' का वैचारिक आधार अपेक्षाकृत कमज़ोर है। यहाँ दीपा का अंतर्द्वंद्व ही मुख्य है, जो अलग-अलग क्षणों में निशीथ और संजय दोनों को ही सच मानता है। संजय के संपर्क में आकर दीपा, एक तरह से, निशीथ को भूल गई थी। कारणों का बहुत स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी वह उसके प्रति काफी कटु है। कानपुर में वह रिसर्च कर रही है और संजय को लेकर शीघ्र ही नए जीवन की शुरूआत की सोचती है। लेकिन एक साक्षात्कार के लिए कलकत्ता जाने पर उसकी इच्छा के विरुद्ध निशीथ से उसकी अचानक ही भेंट हो जाती है। निशीथ के इस संपर्क से उसे लगता है कि जीवन का पहला प्यार ही वस्तुतः सच्चा और वास्तविक है। कानपुर लौटने पर संजय के बाहर होने की खबर से उसे राहत मिलती है। उसे लगता है इसी बीच वह अपने को संभाल सकेगी। लेकिन संजय द्वारा लाए गए रजनीगंधा के फूलों के बिना उसे अपना फूलदान ही नहीं, मन भी सूना लगता है। नैतिक-अनैतिक से परे यह वस्तुतः वर्तमान को पकड़ने और भोगने के दर्शन को प्रतिपादित करती कहानी है। अस्तित्ववाद के अंतर्गत जिसके महत्व को खूब बढ़ा-चढ़ाकर

प्रचारित किया जाता रहा है। विचार के स्तर पर दीपा एक बेहद दुर्बल स्नायुओं की युवती है अपनी प्रकृति में 'ऊंचाई' की शिवानी ग्याहर वर्ष बाद अतुल से मिलती है। पुरी में अचानक हुई यह भेंट क्रम को आगे बढ़ाती है। अब शिवानी विवाहित है, माँ है। लेकिन अतुल को उसके निर्जन घर में अकेला देखकर उसे पीड़ा होती है। क्या वह इतने वर्षों उसके कारण ही रुका और बैठा रहा है? प्रिटी को हॉस्टल में छोड़कर वह दूसरी बार भी इलाहाबाद उतरकर अतुल के पास पहुँच जाती है - काफी-कुछ उसे हतप्रभ करती हुई। घर की इस निर्जनता और अपने अकेलेपन को लेकर पूछे गए सवालों के उत्तर में अतुल अधिक कुछ बोल नहीं पाता है। सब कुछ समझ कर शिवानी को लगता है कि उसके प्यार की लाश ने अतुल को एक जीवित लाश में बदल दिया है और अब उसका प्यार ही उसे एक नया जीवन देगा। यह उसका अधिकार है। शिवानी के इस अधिकार को कोई उससे छीन नहीं सकता। ऐसा करके न तो वह अपने पति शिशिर को धोखा देती है और न ही उसे पीड़ा पहुँचाना चाहती है। वह सिर्फ अपने को पीड़ा से बचाना चाहती है। उसके कारण दूसरे आदमी के टूट जाने के दंश की पीड़ा से। अतुल के पत्र से सारा कुछ मालूम हो जाने पर शिशिर को एक संस्कार गत धक्का लगता है। आखिर वह पुरुष और पति है। बर्दाश्त न कर पाने के कारण वह घर छोड़ कर चला जाता है। अपने को सहेज लेने के बाद वह आशा करता है कि शिवानी अपने किए पर पश्चाताप करेगी और क्षमा मांगेगी। पर वह ऐसा कुछ नहीं करती। शिवानी न रोती है और न ही कटे पेड़ की तरह उसकी बाँहों में आ गिरती है। उसे लगता है कि संबंधों में यदि झटका बर्दाश्त करने का तत्व नहीं है तो उन्हें टूट ही जाना चाहिए। गरम पानी के कुंड में डाले गए पैर की तरह एक-दो बार पानी गरम लगता है, फिर आराम मिलने लगता है और सारी थकान मिट जाती है। पति जहाँ है उस ऊँचाई को छू नहीं सकता; लेकिन मुक्त होने और करने के लिए अपने अधिकार को छोड़कर कोई संबंध कोई अर्थ नहीं रखता है। मन्नू भंडारी की ये कहानियाँ नारी-मन के अंतर्द्वंद्वों को बेबाकी और गंभीरता से उद्घाटित करती हैं। न वे स्त्री के आगे पुरुष को छोटा और हीन साबित करती हैं, न ही प्रेमी के आगे पति को।

मन्नू भंडारी के संदर्भ में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अपनी समकालीन और परवर्ती अनेक महिला कथाकारों की ही नहीं, बहुत से पुरुष कथाकारों की तुलना में भी उनकी कहानियाँ भावुकता और रोमानी आत्मग्रस्तता से मुक्त है। उनकी भाषा बेहद पैनी और तराशदार है, जिसकी सादगी ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। अपने कथ्य के अनुरूप ही वे काव्य उपकरणों के बाहुल्य से बचती हैं। लेकिन अपनी सारी सादगी के बावजूद अर्थ संकेतों की दृष्टि से यह बेहद सक्षम भाषा है। व्यंग्य का इतना संयत और कलात्मक उपयोग तो इस दौर के बहुत कम कहानीकार कर सके हैं। नई कहानी की प्रयोग-बहुलता के दौर में उन्होंने भी कहानी में अनेक प्रयोग किए हैं। 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' में दर्शना की डायरी के अंश हों या 'यही सच है' में शहरों के आधार पर कहानी के उपशीर्षकों का प्रयोग - यह सब अपने दौर के प्रभावों का ही परिणाम है। 'कील और कसक' में आरोपित प्रतीक-विधान का आग्रह भी स्पष्ट है। लेकिन फिर भी कुल मिलाकर मन्नू भंडारी की कहानियाँ प्रयोग बहुलता के कलावादी अतिरेक के विरोध में एक सार्थक हस्तक्षेप के तौर पर देखी जा सकती है।

21.6 मन्नू भंडारी की 'त्रिशंकु' : पाठ बोध और प्रक्रिया

मन्नू भंडारी की कहानी 'त्रिशंकु' देश की स्वाधीनता के बाद तेजी से विकसित उस पीढ़ी की कहानी है, जो गर्व से अपने को 'बुद्धिजीवी' कहती है। उनकी बहसों और विवादों के निष्कर्ष घर में ही टंगे या किताबों में लिखे सुभाषितों का भ्रम पैदा करते हैं। यह वह पीढ़ी है जो प्रेम, विवाह, आधुनिकता और संपूर्ण मूल्य-दृष्टि को लेकर न तो पुरानी भारतीय परंपरा को छोड़ सकी है और न हीं आधुनिकता और बौद्धिक-स्वतंत्रता के नाम पर नए जीवन-मूल्यों को पूरी तरह अपना सकी है। चूँकि पिछली पीढ़ी की तरह इसके आगे सीधे और प्रत्यक्ष हस्तक्षेप की गुंजाइश भी कम रह गई है, अतः वह गहरे अंतर्विरोधों का शिकार है। उसका मुख्य अंतर्विरोध उसकी 'कथनी' और 'करनी' के बीच निरन्तर चौड़ी होती जाती खाई के रूप में सामने आता है। किसी भी तरह के सीधे विरोध के अभाव में यह समूची पीढ़ी त्रिशंकु की तरह लटके हुए

लोगों की पीढी है। वह एक भयंकर छद्म का शिकार है, जिसे मुखौटे की तरह इस्तेमाल करने को वह अभिशप्त है! अपनी संतान से ही रणनीतिक कौशल की मजबूरी उसके सामने है। यही कारण है कि संतान के रूप में विकसित होने वाली युवा होती पीढ़ी के लिए उससे लड पाना कठिन है क्योंकि उसका कोई सीधा और सुपरिभाषित स्टैंड ही नहीं है, जिसका पहले से कोई अनुमान लगाया जा सके।

'त्रिशंकु' की शुरूआत बहुत चुहल भरी व्यंग्यपूर्ण शैली में होती है। जो समूची नई कहानी में मन्नू भंडारी की अपनी एक विशिष्ट शैली है - उन्हें एक अलग पहचान देती हुई। कहानी तनु नामक नवयुवती के परिवार के इसी बौद्धिक वातावरण के सघन व्यंग्यपूर्ण संकेतों से शुरू हुई है। घर, स्कूल, कालेज, विवाह, पति-पत्नी संबंध आदि विषयों पर प्रायः रोज ही धुंआधार बहसें होती हैं। इन बहसों को देखते हुए यह लगे बिना नहीं रहता कि 'बुद्धिजीवियों के लिए काम शायद वर्जित है....' वो काम नहीं, सिर्फ बहस करते हैं। मात्र तीन घंटे की तफरीह-नुमा नौकरी के बाद पूरे दिन मुक्त रहती हैं। यह मुक्तावस्था उनके मन-मस्तिष्क को सक्रिय बनाए रखती है। पिताश्री और भी दो कदम आगे हैं। उनका बस चले तो वे नहाएँ भी अपनी मेज पर ही।

घर में जिस 'आधुनिकता' का समर्थन इन रोज़मर्रा की घनघोर बहसों में किया जाता है वह सिर्फ स्मार्ट किस्म के पहनावे और छुरी-कांटे तक ही सीमित नहीं है। इन बहसों में लीक छोड़कर कुछ नया करने की बात बहुत सुनाई देती है। शादी को यहाँ बर्बादी के तौर पर पेश किया जाता है। विवाह-संस्था में पति-पत्नी का संबंध नकली और ऊपर से थोपा हुआ ही हो सकता है। इस माहौल में छाई गर्मी को देखकर तनु को लगता है कि अब जरूर एक-दो तलाक हो जाएंगे। लेकिन उसे हैरत होती है कि ऐसा कोई हादसा कभी नहीं हुआ - 'सारे ही मित्र लोग अपने-अपने ब्याह को खूब अच्छी तरह तह-समेटकर, उस पर जमकर आसन मारे बैठे हैं। हाँ, बहस की रफ्तार और टोन आज भी वही है।'

एक संस्था के रूप में 'विवाह' को कोसने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि फ्री-लव और फ्री-सेक्स के समर्थन में उत्साहपूर्ण तर्क जुटाए जाते हैं। ऐसे तर्क जुटाने में पुरुष सबसे आगे होते हैं। पापा स्वयं इस सबके उत्साही समर्थक हैं। लेकिन बहस और विवाह से आगे बढ़कर बात अमल पर आती है तो '.... पर हुआ यों कि घर में हमेशा चुप-चुप रहने वाली दूर-दराज़ की एक बिटिया ने बिना कभी इन बहसों में भाग लिए ही इस पर पूरी तरह अमल कर डाला तो पापा की सारी आधुनिकता अSSSधम्! वह तो फिर ममी ने बड़े सहज ढंग से सारी बात को संभाला और निरर्थक विवाह के बंधन में बांधकर बिटिया का जीवन सार्थक किया..... हालांकि यह बात बहुत पुरानी है और मैंने तो बड़ी दबी-ढकी जबान से इसका जिक्र ही सुना है....।'

लेकिन जिस 'मैंने' अर्थात् तनु ने यह सब सिर्फ सुना है, जो काफी पहले बीत चुका है, उस तनु के प्रसंग में ही क्या स्थिति में कोई बुनियादी अंतर आया है? कहने को पापा-ममी का भी प्रेम-विवाह हुआ था और ममी अपने पिता अर्थात् तनु के नाना से लीए गए अपने मोर्चे की बात जब-तब बहुत उत्साह से सुनाती रहती हैं। आज वह सब कुछ एक बीते ज़माने की बात है, ममी को गर्व अपने प्रेम-विवाह पर नहीं, नाना से लिए गए मोर्चे पर है। ममी के द्वारा नाना के बोले गए संवाद तनु को कंठस्थ हो चुके हैं और उन संवादों को जब-तब दोहराते हुए, लीक से हटकर कुछ करने का संकेत ममी के चेहरे पर साफ झलकता है। इस प्रकार इस कहानी में परंपरा-विरोध और कुछ नया कर दिखाने की तथाकथित आधुनिकता का छद्म पूरी तरह उद्घाटित हुआ है।

सामने वाले मकान में पढ़ने वाले दो लड़के कमरा लेकर रहने आ जाते हैं। हंसी-ठठ्ठा और गाने-बजाने के बीच आस-पास के घरों की लड़कियों पर फब्तियाँ कसना उनका खास काम है। धीरे-धीरे तनु को यह लगे बिना नहीं रहता कि उनकी नजरों का असली केंद्र हमारा ही घर है। दूसरों के द्वारा अपने बड़े हो जाने का यह बोध उसे थ्रिल और रोमांच से भर देता है। तनु भी

आखिर नये जमाने में पली-बढ़ी लड़की है। लड़कों की इस हरकत को वह एक चुनौती की तरह लेती है और ममी से वह कहती है कि 'ममी, ये जो सामने लड़के आये हैं, जब देखो मुझ पर रिमार्क पास करते हैं। मैं चुपचाप नहीं सुनूँगी, मैं भी यहाँ से जवाब दूँगी।' स्थिति को बिगड़ने से बचाने और लीक से हटकर कुछ करने की अपनी इच्छा के कारण वे उन लड़को को चाय पर बुलाकर तनु से उनकी दोस्ती की बात कहती है और इस पर अमल भी करती है। लड़कों के आने पर खूब हंसी-मजाक होता है। अपनी ओर से वे अपनी सफाई भी देते है कि मोहल्ले वाले झूठ-मूठ उनके पीछे पड़े हैं वे तो बस जस्ट फार फन कुछ कर दिया वरना इस सबका कोई मतलब नहीं है। स्थिति में पड़ी गुत्थियाँ जल्दी ही दिखाई देने लगती हैं। मामला तनु का है, लेकिन रस्सी ढीली करने और कसने की आजादी उसे न होकर ममी को ही है। वे लोग पापा के खुलेपन और ममी के आत्मीय स्नेह में बहकर मुग्ध होते जाते हैं और तनु, जो इसकी केंद्रीय पात्र होने का गौरव अनुभव करना चाहती है, इस तमाशे की मात्र दर्शक भर बनी रहती है। इस नाटक की हिरॉइन उसके बदले ममी बनी बैठी थीं। तनु के थोड़ा 'फास्ट' जाने से ममी को परेशानी होती है। तनु को बरजते हुए जो उद्‌गार वे व्यक्त करती हैं, तनु को उनमें कभी वे मोहल्ले वाले बोलते सुनाई देते हैं जिनकी ममी ने कभी कोई चिंता नहीं की और कभी ममी में नाना ही उग आते दिखाई देने लगते हैं। लीक से हटकर कुछ करने और चलने का ममी का उत्साह मंद पड़ जाता है। शुरू-शुरू की थ्रिल भी पतझड़ के पीले पत्तों की तरह झड़ जाती है। अब उन्हें एक नंगी सच्चाई को झेलना था - निहायत कच्ची और नाजुक उम्र की लड़की तीन-चार लड़कों के बीच घिरी रहती है।

इनमें भी शेखर नामक लड़के की बात कुछ अलग थी। उसकी अनकही भाषा को तनु समझने ही नहीं लगी थी, उसका प्रत्युत्तर भी देने लगी थी.... 'जल्दी ही मेरी समझ में आ गया कि शेखर और मेरे बीच प्रेम जेसी कोई चीज पनपने लगी है। यो तो शायद मैं समझ ही नहीं पाती पर हिंदी फिल्में देखने के बाद इसको समझने में खास मुश्किल नहीं हुई .....' मुश्किल तनु के लिए नहीं, ममी के लिए पैदा होती है। ममी कलात्मक फिल्मों की प्रशंसक है। उन्होंने समझा था कि तनु से उन लड़कों की दोस्ती का यह मामला भी शांत ढंग से, बिना किसी सनसनीखेज घटना के, चलेगा जो वह नहीं चलता। शेखर और तनु के बीच घटे इस प्रसंग ने उन्हें स्वाभाविक रूप से चौकन्ना बना दिया था। उनके व्यवहार की स्वाभाविक लापरवाही अब जाती रही है और उसके आने पर वे बड़े सजग भाव से तनु के कमरे के ईद-गिर्द ही चक्कर काटती रहती हैं। तनु की किताब में छिपाकर रखी गई छोटी-छोटी पर्चियाँ देखकर उनकी चिंता कुछ अधिक ही बढ़ जाती है। स्कूल से लौटने पर ममी की आवाज का तेवर उसे चौंकाता है। वह यह भी जानती है कि जवाब देने से उनका गुस्सा और बढ़ जाता है। ..... दी गई छूट और आजादी का नाजायज फायदा उठाने पर ममी का कुपित होना स्वाभाविक है। उसकी चुप्पी शायद उन्हें और उकसाती है और वे कहती हैं..... 'बित्ते भर की लड़की और करतब देखो इनके! झापड़ दूंगी तो सारा रोमांस झड़ जाएगा दो मिनट में.....' तनु तिलमिलाकर आश्चर्य से ममी की ओर देखती हैं। उसे लगता है कि न यह तेवर ममी का है और न ही भाषा। वह 'नाना' के मरने के बरसों का हिसाब लगाती है - जो आज फिर ममी के भीतर आ बैठे हैं - उन ममी के भीतर जो होश संभालने के बाद हमेशा उनसे झगड़ा करती रहीं। इस घटना का प्रभाव तनु पर भरपूर पडता है और उसी के जरिए शेखर पर भी।

ममी और पापा के बीच हुई बातचीत को नहाकर निकली तनु चुपचाप सुनती है और उनके स्वर की सांद्रता उसे ही सहलाती सी लगती है। बाथरूम के लिए उठने पर आधी-रात को शेखर की छत पर एक लाल सितारे जैसी किसी चीज को देखकर वे चौंकती हैं। धीरे-धीरे सितारे की वह चमक एक आकृति में बदलती लगती है और तब वे समझ पाती हैं कि आधी रात को छत पर टलहता शेखर सिगरेट पी रहा है। शेखर की इस हालत को वे तनु के बुझी-बुझी रहने से जोड़कर देखे बिना नहीं रह पाती। और फिर जैसे वे स्वयं को धिक्कारते हुए कहती हैं, 'पहले तो छूट दो और फिर जब आगे बढ़े तो खींच कर चारों खाने चित्त कर दो। यह भी कोई बात हुई भला....' और फिर शेखर पहले की तरह ही घर में आने लगता है। घर की अनुमति और सहयोग को देखते हुए मोहल्ले वालों की दिलचस्पी भी इस प्रेम-प्रसंग मे कम

हो जाती है, जैसे वे लोग धैर्यपूर्वक किसी बड़े हादसे की प्रतीक्षा में चुप हो जाते हैं।

लेकिन इतने से ही ममी की परेशानी दूर नहीं हो जाती है। ममी के भीतर 'नाना' जब-तब कसमसाने लगते हैं और उसकी प्रतिक्रिया उनके चेहरे पर साफ झलकती है। कभी-कभी वे शेखर के मजनूपन की मजाक भी तनु से उड़ाती हैं। तनु के संदर्भ में अपने देखे गए सपनों और पाली गई महत्वाकांक्षाओं का वास्ता भी वे उसे देती है। लेकिन आखिरकार तनु है तो नए जमाने की लड़की। वह हंसकर माँ की बात का उत्तर देती है, 'ममी, तुम भी कमाल करती हो। अपनी जिंदगी को लेकर भी तुम सपने देखो और मेरी जिंदगी के सपने भी तुम्हीं देख डालो..... कुछ सपने मेरे लिए भी छोड़ दो।' ममी उसके कमसिन होने का वास्ता देकर अपना दिमाग पढ़ाई में लगाने की सलाह देती है। उसके इस प्रेम-प्रसंग को वे 'फितूर' बताती है। उम्र आने पर प्रेम भी करना और शादी भी, लेकिन इतनी अक्ल तो आ जाए कि ढंग से चुनाव कर सको। पच्चीस साल की उम्र में ममी के अपने चुनाव की बात तनु इस तर्क से काट देती है कि ममी के जमाने में पच्चीस साल की उम्र में लड़की जितना समझती थी, अब लड़की पंद्रह की उम्र में वह सब जानती-समझती है।

परीक्षाओं के बाद जब एक दिन तनु शेखर और दीपक के साथ पिक्चर जाने की बात ममी से पूछती हैं तो ममी उसे पास बिठाकर समझाने की कोशिश करती हैं। वे स्वयं उसे साथ लेकर पिक्चर दिखाने की बात भी कहती हैं। लेकिन तनु का सवाल अपनी जगह कायम है - 'क्यों, उन लोगों के साथ जाने में क्या हर्ज है?' ममी उसे एक बार फिर अपने द्वारा दी हुई छूट का वास्ता देती है और सलाह देती है कि वह इतनी तेज न चले कि वे स्वयं उसके साथ न चल सकें। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे कहती हैं कि उनका साथ चलना तो जरूरी है - क्योंकि कभी औंधे मुँह गिरने पर कोई उठाने वाला भी तो चाहिए। बहस करना ममी की आदत है। इस बढ़ती जाती बहस पर पटाक्षेप करते हुए तनु कहती है, 'ममी, जो चलेगा, वह गिरेगा भी और जो गिरेगा, वह उठेगा भी और खुद ही उठेगा, उसे किसी की जरूरत नहीं है.....' तनु 'इनकी' अर्थात् ममी की 'बड़ी-बड़ी बातों' की वास्तविकता अच्छी तरह जानती है। हमेशा की तरह इस विवाद के बाद भी शेखर और उसके दोस्तों को घर पर बुलाया जाता है। मजलिस और खाने की मौज-मस्ती में जमें रंग से तनु का दोपहर वाला आक्रोश काफी कुछ धुल गया-सा दीखता है।

लेकिन यह समस्याओं का अंत नहीं है। उस दिन तनु के अपनी सहेली के घर से लौटने पर ममी की सख्त आवाज उसे सुनाई देती है। पास पहुँचने पर ममी का सवाल है - क्या वह शेखर के कमरे पर जाती है? वह समझ जाती है यह मोहल्ले के ही किसी व्यक्ति का काम है। लेकिन ममी के गुस्से का कारण वह समझ नहीं पाती। यदि दो-तीन बार वह थोड़ी-थोड़ी देर को शेखर के कमरे पर चली गई तो ऐसा क्या गुनाह हो गया? लेकिन दुःख, क्रोध और आतंक की परतें उन के चेहरे पर गहरी होती जाती है। ममी के खिंचते हुए भाषण और बढ़ते हुए गुस्से से उसे भी गुस्सा चढ़ने लगता है। घर में अजीब-सा तनाव उसे सब कहीं पसरा दिखाई देता है। वह अनकहा तनाव पापा के चेहरे पर भी साफ दिखाई देने लगता है। जिससे लगता है कि ममी ने उन्हें भी सब कुछ बता दिया है।

तनु को लगता है कि अब शायद उसे भी मोर्चा लेना होगा - वैसा ही मोर्चा जिसकी बात अपने संदर्भ में नाना से लेने की बात ममी जब'तब करती रही हैं। ममी की दी गई इस आजादी को वह एक 'झूठी आजादी' मानती है - बहुत कुछ उसी तरह जैसे देश की स्वाधीनता को अनेक वामपंथी विचारक अंग्रेजों की दी हुई आजादी को मानते थे। फिर वह दृढ़तापूर्वक अपना इरादा उन्हें बताती है, 'ममी तुम अच्छी तरह समझ लो कि मैं भी अपने मन की ही करूँगी.... ' हॉलाकि उसके मन में क्या है, यह उसे भी मालूम नहीं है।

हमेशा की तरह इस बार भी सब कुछ पहले जैसा ही होता है। शाम को खाने की मेज पर शेखर अपने दोस्तों के साथ डटा हुआ था। ममी वैसे ही प्रेम से उन लोगों को खाना खिला रही थीं

और पापा हमेशा की तरह खुले ढंग से मजाक कर रहे थे। इस सबको देखकर लगता ही नहीं था कि जैसे कहीं कुछ घट चुका है। अगल-बगल की खिड़कियों से दो-चार सिर चिपके हुए थे और सब-कुछ बहुत स्वाभाविक सा लगता था। लेकिन इस सारे वातावरण को देखते हुए तनु कुछ गंभीर दिखाई देती है। ऐसा भी लगता है कि इन छोटी-मोटी रोज़मर्रा की घटनाओं ने उसे वयस्क बना दिया है '..... केवल मैं इस सारी स्थिति से एकदम तटस्थ होकर यही सोच रही थी कि नाना पूरी तरह नाना थे - शत प्रतिशत - और इसी से ममी के लिए लड़ना इतना आसान हो गया होगा। पर इन ममी से लड़ा भी कैसे जाए, जो एक पल नाना होकर जीती हैं तो एक पल ममी होकर.....' नाना और ममी का यह बेमेल मिश्रण ही वस्तुतः ममी की पूरी पीढ़ी को त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटकाए हुए है, जिसके सबब से न वे नाना बन पाती हैं, और न ही ममी।

'त्रिशंकु' शीर्षक की सार्थकता

नयी कहानी की व्यक्तिनिष्ठ धारा में नये-पुराने या नयी पीढ़ी और पुरानी-पीढ़ी के मध्य होने वाले संघर्ष को दो पीढ़ियों के संघर्ष के रूप में विशेष रूप से चित्रित किया गया है। यह दो पीढ़ियों के नए-पुराने मूल्यों के संघर्ष का आभास देता है। लेकिन इसका परिणाम प्रायः मूल्यहीनता में ही दिखाई देता है। 'त्रिशंकु' कहानी में भी ऐसा ही आभास होता है। लेकिन 'त्रिशंकु' कहानी में माँ-बेटी के माध्यम से नये-पुराने का द्वंद्व दो पीढ़िया का द्वंद्व मात्र न होकर पुरानी पीढ़ी-के त्रिशंकुपन का द्योतक है। क्योंकि यहाँ एक तरफ 'नाना' उपस्थित है तो दूसरी तरफ माँ (नाना की बेटी)। माँ नाना को न पूरी तरह अस्वीकार कर पाती है और न स्वीकार ही कर पाती है। इस अस्वीकार-स्वीकार के मध्य उसकी स्थिति 'त्रिशंकु' जैसी दिखायी देती है। लेकिन कहानी के अंत से यह बिलकुल स्पष्ट है कि तनु को माँ की तरह नाना से मोर्चा नहीं लेना पड़ेगा। फिर भी वह अपने जीवन साथी के चुनाव में माँ की तरह ही सफल होगी। अतः इस पूरे द्वंद्व में नारी स्वाधीनता की एक मूल्यदृष्टि भी निहित है। माँ के लिए त्रिशकु का प्रतीक मात्र समुचित ही न होकर अत्यंत सार्थक और व्यंजक भी है।

21.7 सारांश

मन्नू भंडारी की 'त्रिशंकु' अनेक कारणों से एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कहानी है। नई कहानी के दौर में कहानी जिस अनुभववाद की शिकार हुई थी 'त्रिशंकु' उसका अतिक्रमण करती है। मन्नू भंडारी के बाद की कथा-पीढ़ी के संदर्भ में 'महिला लेखन' अथवा 'महिला-कहानी' जैसे पदों का इस्तेमाल प्रचुरता से दिखाई देता है। लेकिन नई कहानी के दौर में मन्नू भंडारी की कहानियों के संबंध में कभी ऐसी बात नहीं कही गई, यद्यपि इस अनुभववाद की अनुगूंज उनकी भी कुछ कहानियों में सुनी जा सकती है। 'महिला-लेखन' जैसे पद पर अनेक परवर्ती लेखिकाओं ने आपत्ति और आक्रोश व्यक्त किया है। मन्नू भंडारी मूलतः कहानी की समाज-सापेक्ष यथार्थवादी धारा की लेखिका हैं। यही कारण है कि मन्नू भंडारी की कहानियों पर कभी 'महिला-लेखन' का ठप्पा नहीं लगाया गया। वे बृहत्तर सामाजिक संदर्भों की लेखिका हैं, जो कहानी में व्यंग्य का इस्तेमाल उसी कौशल और सफलता से करती हैं, जिसकी शुरूआत चंद्रकिरण सौनरेक्सा में दिखाई देती है। मन्नू की कहानी में दो चीजें दर्शनीय हैं - 'एक तो इन्होंने पारिवारिक जीवन की विविध समस्याओं और नर-नारी संबंधों के विविध आयामों को लिया है और कहीं-कहीं तो सामाजिक जीवन के भी गहरे प्रश्नों को प्रामाणिकता के साथ रूपान्वित किया है और दूसरे प्रायः इनकी कहानियों का स्तर एक-सा ऊँचा है।

मन्नू भंडारी ने नारी के परिवेश की विभिन्न समस्याओं के विविध पहलुओं को गहराई के साथ देखा है और उसे यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत किया है। साहस और तटस्थता के साथ। और यह मन्नू भंडारी की कहानियों की बहुत बड़ी विशेषता कही जा सकती है क्योंकि उससे पहले कथा साहित्य में अक्सर ही नारी का चित्रण पुरुष की आकांक्षाओं से प्रेरित होकर किया गया

है। नारी के समग्र व्यक्तित्व को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत नहीं किया गया था। लेकिन मन्नू भंडारी ने अपनी कहानियों में पुरानी रूढ़ियों का परित्याग करते हुए नारी को उसके वास्तविक यथार्थ रूप में अभिव्यक्त किया है। पूरी कहानी में व्यंग्य की एक अंतर्धारा, जो 'त्रिशंकु' शीर्षक में भी मौजूद है, एक ऐसे दुर्लभप्रायः शिल्प को संभव बनाती है, जो काव्योपकरणों की अकारण घुसपैठ पर अंकुश लगाकर अनुभववाद के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करता है। मन्नू भंडारी की परवर्ती कथा-पीढ़ी में इस शिल्प-कौशल का उपयोग ज्ञानरंजन में देखा जा सकता है। मन्नू भंडारी के यहाँ एक घर-परिवार की निजी समस्या भी समूचा सामाजिक परिप्रेक्ष्य लेकर सामने आती है। इसीलिए वह महिला-लेखन की एक विशिष्ट पहचान 'निजी' और 'व्यक्तिगत' के परे और बाहर जाती है। वे उस 'निजी' को सामाजिक और राष्ट्रीय संदर्भ देकर उसे पूरी पीढ़ी और समय की रचना में ढाल देती हैं। 'त्रिशंकु' इस दृष्टि से भी उनकी एक महत्वपूर्ण, उल्लेखनीय और प्रतिनिधि कहानी है।

21.8 प्रश्न

1. नई कहानी आंदोलन में मन्नू भंडारी की सक्रिय भागीदारी को रेखांकित कीजिए। (उदाहरण जरूर दीजिए)।
2. 'नई कहानी आंदोलन के अन्य लेखकों की रचनाओं से मन्नू भंडारी की कहानियाँ भावुकता और रोमानी आत्मग्रस्तता से मुक्त है' इस कथन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3. ''त्रिशंकु' में भारतीय स्त्री, वर्तमान जीवन की त्रासद स्थितियों के बीच जीने के लिए विवश है, न तो वह पूर्णतः आधुनिक बन पा रही है और ना ही परंपराओं की जकडन को दूर कर पा रही है''। इस कथन संबंधी विस्तार से अपना मत प्रकट कीजिए।
4. क्या मन्नू भंडारी की कहानियाँ नारी परिवेश की विभिन्न समस्याओं के विविध पहलुओं को गहराई के साथ यथार्थ अभिव्यक्ति देती है?
5. 'तनु की उम्र की लड़की को प्रेम की जगह अपने भविष्य के प्रति अधिक ध्यान देना चाहिए'; यह ममी का मत है। तनु प्रेम की स्वतंत्रता चाहती है किसी का भी आदेश या उपदेश नहीं। इस बारे में आपका अपना मत विस्तार से लिखिए।

उपयोगी पुस्तकें

नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति :(सं.) देवीशंकर अवस्थी : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

हिंदी कहानी : अस्मिता की तलाश मधुरेश : आधार प्रकाशन, पंचकूला

हिंदी कहानी का विकास : मधुरेश : नई कहानी, 170 अलोपी बाग, इलाहाबाद

नई कहानी का अंतःसंघर्ष : एक विमर्श मधुरेश : (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली से शीघ्र प्रकाशन)